विज्ञान-युग में धर्म

• विनोबा

विनोबा जन्म शताब्दी पर विशेष

विज्ञान-युग में धर्म

विनोबा

संकलन-सम्पादन
कान्ति शाह
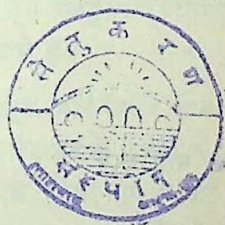
गुजराती से अनुवाद
नलिनी लायजावाला

सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

विषयानुक्रम

(१) हिन्दू-धर्म की व्यापकता एवं उदारता

एक होती है व्यावर्तक व्याख्या। जब वस्तु का प्रत्यक्ष वर्णन करने के बजाय परोक्ष वर्णन किया जाता है, यानी इसमें उस वस्तु के सिवा दूसरी सभी वस्तुओं का निषेध करते-करते मुख्य वस्तु का वर्णन किया जाता है, तब वह व्यावर्तक व्याख्या कहलाती है। व्यावर्तक व्याख्याओं का आधार, पारस्परिक अभाव का विचार है। यानी जहाँ घट है, वहाँ पट का अभाव है, और जहाँ पट है, वहाँ घट का। घड़ा कपड़ा नहीं और कपड़ा घड़ा नहीं। यह हुआ पारस्परिक अभाव का विचार और इस पर आधारित व्याख्या, अर्थात् व्यावर्तक व्याख्या। इस प्रकार की व्याख्या से अर्थ का स्पष्ट बोध नहीं होता। सीधी बात कहने की बजाय अटपटी बात कही जाती है और कई बार तो इससे अनर्थ भी होता है।

और जब ऐसी व्यावर्तक व्याख्याएँ समाजशास्त्र के क्षेत्र में लागू की जाती हैं तब तो वह अत्यन्त अनर्थकारक साबित होती हैं। क्योंकि, समाजशास्त्र में पारस्परिक अभाव की नहीं, किन्तु पारस्परिक भाव की मुहर चलती है। विश्वरूप में बालकृष्ण की छवि और बालकृष्ण के मुख में विश्वरूप, इसमें कोई चमत्कार की बात नहीं। वह तो सृष्टि-रचना का सामान्य तत्त्व है। जैसे कि, बीज में फल और फल में बीज, पिण्ड में ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड में पिण्ड, आकाश में गहराई और गहराई में आकाश, साहित्य में ग्रथ और ग्रंथ में साहित्य, स्वार्थ में परार्थ और परार्थ में स्वार्थ, ताने के धागे में भरनी और भरनी के धागे में ताना, इस प्रकार समाज में सभी वस्तुएँ एक-दूसरे के साथ पिरोयी हुई हैं। इसमें पारस्परिक भाव मुख्य है।

इसके बजाय पारस्परिक अभाव को आगे किया जाता है, तब बड़ा अनर्थ होता है। समाजशास्त्र में तो, 'अभावें कदा पुण्य गांठी पडे ना'—अभाव से कभी पुण्यलाभ नहीं मिलता, ऐसा ही अनुभव होगा। उदाहरणार्थ, कुछ साल पहले 'हिन्दू कौन है ?' इसकी चर्चा उठायी गयी थी। अब यदि पारस्परिक-अभाव के विचार के आधार से 'हिन्दू' की व्यावर्तक व्याख्या करने जायँ तो, हिन्दू की व्याख्या होगी—जो मुसलमान नहीं, वह हिन्दू, जो ख्रिस्ती नहीं, वह हिन्दू, जो बौद्ध नहीं, वह हिन्दू, जो पारसी नहीं, वह हिन्दू, वगैरह। किन्तु यह ठीक नहीं होगा। हिन्दू और हिन्दू-धर्म की, और सभी धर्मों की भी व्याख्या, पारस्परिक-भाव पर आधारित होनी चाहिए। यानी कि हिन्दू-धर्म में मुसलमान हैं, और इस्लाम-धर्म में हिन्दू हैं, और दोनों में धर्म है। इसके विपरीत व्याख्या करना बिल्कुल गलत बात होगी।

हिन्दू-धर्म की रचना अत्यन्त उदार भाव से हुई है। मैं (यानी कि कोई भी एक 'जीव') तू (यानी कि इनसे अन्य सर्व जगत्) और वह (यानी कि जगत्कर्ता ईश्वर)—इन तीनों से विश्व का व्याकरण बना है। ये तीनों भी पारस्परिक भाव से बँधे हुए हैं। अर्थात् मुझ में सभी जीवन और परमेश्वर, सभी जीवों में परमेश्वर और मैं, और परमेश्वर में मैं और सभी जीव—इस प्रकार का यह त्रिकोण बैठाया है। हिन्दू-धर्म की रचना ऋषियों ने पारस्परिक भाव के ऐसे उदार तत्त्व पर ही बनायी है। इसलिए हिन्दू-धर्म की अभावमूलक व्याख्या करने जायेंगे तो, वह हिन्दू-धर्म की जड़ पर ही प्रहार करने जैसा होगा।

व्यापकता, यह तो हिन्दू-धर्म की आत्मा है। मनुष्य को मनुष्य के नाते ही देखें, नहीं तो हम हिन्दू-धर्म की आत्मा को ही खो बैठेंगे। हिन्दू-धर्म कहता है कि सबमें एक ही आत्मा झलकती है। हिन्दू-धर्म इतना विशाल धर्म है कि यहाँ किसी भी प्रकार के संकुचित भाव को

स्थान नहीं। इस बात को यदि नजरअंदाज करेंगे तो हिन्दू-धर्म की नींव ही हम उखाड़ देंगे। हमारे शास्त्र कहते हैं, 'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति।' हिन्दू-धर्म कहता है, सत्य एक है, किन्तु उपासना के लिए वह अलग-अलग भी बन सकता है। शास्त्रों ने, 'मुर्खाः बहुधा वदन्ति', ऐसा नहीं कहा। ऐसी व्यापक वृत्ति हिन्दू-धर्म में है। ऐसा समझेंगे तभी हिन्दू-धर्म की सेवा कर पायेंगे।

हिन्दू-धर्म में विचार-स्वातंत्र्य की पराकाष्ठा देखी जाती है। इसमें षड्-दर्शनों का समावेश हुआ है। एक ही धर्म में इस तरह, अनेक प्रकार के दर्शन एक साथ कैसे रहते हैं, इस विषय में बहुतों को आश्चर्य होता है। किन्तु हम वृक्ष को देखें। एक ही वृक्ष पर पत्ते, फल, फूल, शाखाएँ कैसे इकट्ठे रह लेते हैं? इन सभी में देखने जायँ तो समानत्व तो कुछ भी नहीं। किन्तु प्रकृति में हमें सर्वत्र भेदात्मक एकत्व का ही रूप दिखायी पड़ता है। इसके उदाहरण ढूँढ़ने कहीं नहीं जाना होगा। चारों ओर, वह देखने को मिलेंगे। ऐसा ही हिन्दू-धर्म में है। इसीलिए तो हिन्दू-धर्म के अखाड़े में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों का जोरदार मल्लयुद्ध हो सका।

जैन-बौद्धों ने भी इस अखाड़े में अपनी ताकत आजमायी, किन्तु जिस अखाड़े में जीतनेवाले को पुरस्कार और हारनेवाले को भी कम-से-कम एक श्रीफल देने की पद्धति थी, जिसने यह मल्लयुद्ध भी स्वीकार कर लिया। वैसे तो बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म का भी एक दर्शन बनने लायक है, किन्तु तत्कालीन हिन्दू-समाज द्वारा, (हिन्दू-धर्म द्वारा नहीं) अखाड़े के रिवाजों को तोड़ने के कारण वह स्वतंत्र धर्म बना। किन्तु आगे चलकर इसके सिद्धान्तों की ओर उचित ध्यान दिया गया। हिन्दू-धर्म ने देखा कि बुद्ध में सत्य का अंशावतार हुआ है। तब बौद्धों के विशिष्ट दर्शन का उसने अपने में आत्मसात् किया। बौद्ध 'धर्म' हिन्दुस्तान में रहा नहीं, बौद्ध 'दर्शन' रहा। हिन्दू-

धर्म के व्यापक क्षितिजों में सभी धर्मों का, भिन्न-भिन्न दर्शन के नाते, आत्मसात् करने की सुविधा है।

कहा जाता है कि हिन्दू-धर्म 'सनातन' धर्म है। 'सनातन' शब्द का प्रयोग कई बार किये जाने पर भी इसके सही-सही अर्थ का पूरा बोध लोगों को नहीं होता है। धर्म दोहरा है। एक, जो बदलता नहीं, जो कायम रहता है, जैसे कि सत्य का परिपालन, प्राचीन काल में भी धर्म रूप था और आज भी है। हिन्दुस्तान में इसका परिपालन धर्मरूप है। इसी प्रकार दूसरे देशों में भी है। सत्य के परिपालन में देश-काल का भेद लागू नहीं होता। वह तो नित्य, कायम और सनातन धर्म है। इसी प्रकार प्रेम, ज्ञान, दया, वात्सल्य, ये सभी सनातन धर्म हैं।

इसके बाद इन सभी को व्यवहार में लाने के लिए तत्कालीन युग में जो किया जाता रहा है, वह समय, प्रसंग और देश के अनुसार बदलता रहता है। कोई खड़े रहकर हाथ जोड़े हुए भगवान् की प्रार्थना करता है। कोई घुटने टेक कर करता है। उपासना के लिए कोई कुरान का, कोई बाइबिल का तो कोई गीता का सहारा लेता है। किन्तु परमेश्वर की भक्ति में, परमेश्वर को सर्वस्व समर्पित करने की वृत्ति में, कोई फर्क नहीं पड़ता। प्रार्थना के अलग-अलग प्रकार में फर्क पड़ेगा, परन्तु सभी धर्मों में भक्ति का तत्त्व सनातन है। वह सभी के लिए समान है, इसका निरन्तर ध्यान करते रहना, यही हमारा कर्तव्य है। इसकी पूर्ति के लिए समाज, देश और कालानुसार पद्धतियाँ और आचरण होता है। यह धर्म का बड़ा हिस्सा होने पर भी, गौण है। हिन्दू-धर्म सनातन तत्त्वों को विशेष महत्त्व देता है इसलिए उसे सनातन धर्म कहा गया है।

हिन्दू-धर्म में, जैसे तात्विक विचार-भेद की अद्भुत सहिष्णुता है, वैसे आचार-भेद की भी है। ब्राह्मणादि वर्ण-भेद, ब्रह्मचर्यादि आश्रम-भेद, शैव-वैष्णवादि देवता-भेद, द्वैताद्वैतादि दर्शन-भेद, कबीर-नानकादि

पंथ-भेद, समर्थ चैतन्यादि भक्ति-भेद, श्रुति-स्मृति आदि शास्त्र-भेद, तीर्थ-क्षेत्रादि स्थल-भेद वगैरह अनेक कारणों से हिन्दू-धर्म में आचार-भेद मान्य किये गये हैं।

ऐसी परिस्थिति में अन्य धर्मों का आचार भी मान्य रखने से कुछ बिगड़ता नहीं। किसी भी धर्म के अनुयायी, अपने-अपने धर्म के अनुसार भले ही भिन्न-भिन्न आचरण करें। 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः'—अपने-अपने कर्म करने से हरएक व्यक्ति सिद्धि प्राप्त कर सकता है, इसी कथन के अनुसार सभी धर्मों के आचारों को मान्यता दी गयी है। भिन्न-भिन्न धर्मों के भिन्न-भिन्न आचार, बहुधा तत्कालीन देशकालादि परिस्थिति को ध्यान में रखकर होते हैं। ऐसे आचार और रिवाजों का, धर्म की आत्मा के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं रहता।

सारांश यह कि हिन्दू-धर्म में अनेक आचारभेद और विचारभेदों का समावेश हुआ है। महद् अंश से सभी धर्म भी ऐसी ही वृत्ति पर खड़े हुए हैं। इससे हिन्दू-धर्म, और इसी प्रकार किसी भी धर्म की व्यावर्तक व्याख्या करना अन्योन्य भाव के विरुद्ध है, अशास्त्रीय भी है। सच तो यह है कि व्यावर्तक दृष्टि से दुनिया की ओर देखने की पद्धति मूलतः गलत है। 'हिन्दू मुसलमान नहीं और मुसलमान हिन्दू नहीं'—इस प्रकार के दर्शन से तो संकीर्ण गुटबन्दी ही खड़ी करते जायेंगे। इससे तो पूरी सृष्टि का कोई मूल्य ही नहीं रहेगा, किसी की कुछ कद्र नहीं होगी, सामाजिक व्यवहार की गाड़ी ठप्प होगी, फँस जायेगी और दुनिया में जो आदर-भावना है, वह नष्ट होती जायेगी।

आजकल सार्वजनिक जीवन में खासकर कैसी चर्चा चलती है? जैसे 'क' में 'च' के गुण नहीं, और 'च' में 'क' के नहीं। पारस्परिक अभाव के विपरीत दर्शन का यह स्वाभाविक परिणाम है। गीता की भाषा में कहना हो तो, समाज के सद्भाव और साधुभाव, दोनों का

इस अभाव से नाश होगा। इसलिए हिन्दू की और हिन्दू-धर्म की जो व्यापक भावना है, विचार-स्वातंत्र्य और आचार-स्वातंत्र्य के लिए जो औदार्य है, भिन्न-भिन्न दर्शनों की जो स्वीकृति है, भिन्न-भिन्न धर्मों के भिन्न-भिन्न आचारों के लिए जो सहिष्णुता है, वह कायम रखने से ही हिन्दू-धर्म की सच्ची सेवा मानी जायेगी।

(२) हिन्दू-धर्म सर्व समावेशक धर्म है

धर्म हमारा चतुर्विध सखा है। हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक, ऐहिक और पारलौकिक जीवन में वह मित्र का कार्य करता है। धर्म की व्याख्या की गयी है, 'धारणात् धर्मः'--सभी को धारण करता है, इसलिए वह धर्म है। किन्तु बदकिस्मती तो यह है कि, सभी को धारण करनेवाला धर्म ही आज विभाजन करनेवाला बन गया है। धर्म आज मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद खड़े कर रहा है। कोई धर्म-कार्य हो, वहाँ सभी लोग इकट्ठे हों, ऐसा नहीं होता। शिव-भक्तों का एक पंथ है, तो वैष्णवों का दूसरा पंथ! और वैष्णवों में भी राम का एक पंथ तो कृष्ण का दूसरा पंथ! इसमें कई एक सगुण भक्ति पंथ के हैं तो कई निर्गुण। और फिर अलग-अलग धर्म-पंथी होते हैं। एक कहेगा, मैं तो राम का ही नाम लूँगा, तो दूसरा कहेगा, मैं अल्लाह का नाम ही लूँगा। इस प्रकार जो धर्म सभी को प्रेम के बन्धन में इकट्ठा करनेवाला उत्पन्न हुआ था, वही धर्म आज अलगाव खड़ा कर रहा है।

एक सत्पुरुष की बात है। उसने एक मंदिर बनाया भक्ति के लिए। किन्तु देखा क्या कि, सिर्फ हिन्दू ही वहाँ आते हैं, मुसलमान नहीं। उसने सोचा, मुसलमानों का न आना ठीक नहीं। तो उसने मंदिर की मस्जिद बनवा दी। तब मुसलमान तो बड़े प्रेम से आने लगे, किन्तु हिन्दुओं ने आना बन्द कर दिया। उस सत्पुरुष को दुःख हुआ। अब क्या करना, यह वह सोचने लगा। फिर उसने मस्जिद तुड़वाकर वहाँ पाखाना बनवाया तो सभी वहाँ आने लगे! मंदिर बनवाया तो मुसल-

मान नहीं आते थे, मस्जिद बनवायी तो हिन्दू नहीं आते थे, अब पाखाना बनवाया तो सभी आने लगे। सारांश, आज धर्मवालों ने इतने भेद बढ़ा दिये हैं कि धर्म साधक बनने की बजाय बाधक बन बैठा है।

दुनिया को व्यावर्तक दृष्टि से देखने का यह परिणाम है। इसी से पारस्परिक अभाव की वृत्ति को पुष्टि मिलती है--हिन्दू मुसलमान नहीं हैं—मुसलमान हिन्दू नहीं हैं। ऐसी दृष्टिहीन पारस्परिक अभाव का पागलपन छोड़ने में ही मनुष्य का कल्याण है। किन्तु आज तो आधुनिक वातावरण इस अभाव-पूजन के सम्प्रदाय की ही पुष्टि करता है। इसी से इसका साम्राज्य समस्त जगत् में फैलता जा रहा है। आज राष्ट्र-राष्ट्र में पारस्परिक अभाव काफी बढ़ा हुआ है। एक राष्ट्र दूसरे के प्रति अभावात्मक दृष्टि से सोच रहा है। अपना बल बढ़ाना इसका अर्थ है, दूसरे का बल कम करना इस तरह राजनीति दृष्टिहीन पारस्परिक अभाव की आँख से ही दुनिया को देख रही है।

पश्चिम के तर्कशास्त्र में द्वैतीकरण (डिविजन बाय डिकोटोमी) की पद्धति का आयोजन, पारस्परिक अभाव के सिद्धान्त से हुआ है। जगत की कोई भी एक चीज एक ओर, और बाकी की शेष सभी चीजें दूसरी ओर, इसे द्वैतीकरण कहते हैं। किन्तु यह तो वर्गीकरण के स्थान पर विरूपीकरण की प्रक्रिया बन जायेगी। जैसे मनुष्य का वर्गीकरण सिर और धड़ अलग-अलग मानकर करें अथवा एक चित्र का, सफेद कागज और काला रंग, ऐसे दो घटक माने जायँ तो इससे अरसिकता और हिंसात्मकता के लक्षण ही प्रकट होंगे। इसी प्रकार पारस्परिक अभाव के सिद्धान्त से विश्व का द्वैतीकरण करने लगेंगे तो भी यही लक्षण प्रगट होंगे। वास्तव में विश्व की सभी चीजें, एक छोटा-सा विश्व ही है, विश्व का अंश ही है। इसी से ऐसी पारस्परिक अभाव की कल्पना करना तर्कशुद्ध नहीं।

तात्विक दृष्टि से भी विश्व की छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ विश्व की छोटी-बड़ी आवृत्ति के समान ही हैं। इसे दूसरी भाषा में कहना हो तो,

कोई भी वस्तु एक स्वयंपूर्ण विश्व ही है। विश्व की विविध शक्तियों का यदि वर्गीकरण करके देखेंगे तो पता चलेगा कि जितने भी मूलभूत तत्त्व निकले हैं वे सब-के-सब समस्त वस्तुओं में मौजूद हैं। विश्व का जो कुछ मूल तत्त्व होगा अथवा मूल तत्त्व होंगे, उसी की भिन्न-भिन्न तस्वीरों, आकृतियों, प्रतिमाओं और मूर्तियों से विश्व का विस्तार हुआ है।

इस तत्त्व या तत्त्व-समूह को 'ब्रह्म' कहें तो कहना होगा कि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म की प्रतीक है। मैं और मेरा भाई, एक ही वस्तु की तस्वीरें हैं, यह बात जरा कोशिश करने पर समझ में आती है, किन्तु मैं और बैल, एक ही वस्तु की तस्वीरें हैं, यह समझना कठिन होता है। फिर मैं और पत्थर, एक ही वस्तु की तस्वीरें हैं, यह तो असम्भव-सा ही लगता है। किन्तु यदि मैं मुझमें दूसरों का, और दूसरों में मेरा अभाव मानने लगूँ तो ऐसा ही करना होगा कि मुझे प्रकृति-हृदय की पहचान नहीं। शालिग्राम में भले ही 'पत्थर विशेष' का गुण व्यक्त हुआ है, किन्तु अन्य सभी पदार्थों का सामान्य गुण भी अव्यक्त रूप से इसमें मौजूद है ही। तो इसमें अन्य पदार्थों का अभाव मानना उचित नहीं। यह शालिग्राम एक छोटा-सा विश्व है, विश्व के प्रतिनिधि-रूप में उसको पसन्द किया जा सकता है। विश्व का कोई भी पदार्थ विश्व-रूप ही है।

मूर्ति-पूजा की कल्पना की यही भूमिका है। शालिग्राम में विश्वरूप विष्णु की भावना करना, यह लोगों की दृष्टि की कल्पना है। किन्तु शालिग्राम की दृष्टि से देखेंगे तो भावना करने का प्रश्न ही नहीं है। शालिग्राम स्वतः सिद्ध विश्वरूप है। इसका अर्थ ऐसा नहीं कि मूर्ति-पूजा गलत है। सच देखें तो यह एक उपयोगी भावना है और यह भावना भी शालिग्राम की दृष्टि से नहीं, हमारी अपनी दृष्टि से है। ऐसा मानना ठीक नहीं कि जो अचेतन है, ऐसे शालिग्राम में वैदिक मंत्रों द्वारा चैतन्यमय विष्णु की प्राण-प्रतिष्ठा करनी है। सत्य तो यह

है कि जो सचेतन ही है, किन्तु अचेतन शासित हो रहा है ऐसे शालिग्राम स्थित चैतन्यमय विष्णु की वैदिक मंत्रों द्वारा खुद अपने हृदय में प्राण-प्रतिष्ठा करनी है। चावल के एक कण से पूरे भात की परीक्षा होती है। इसी प्रकार एक शालिग्राम से समस्त विश्व की कल्पना कर सकते हैं। ऐसे पारस्परिक अभाव का सिद्धान्त बिलकुल अनुपयोगी है।

तभी तो सभी धर्मों की रचना अभाव-सिद्धान्त पर नहीं, पारस्परिक भाव के व्यापक सिद्धान्त से ही की गयी है। इसमें भी हिन्दू-धर्म की रचना तो विश्व-संग्राहक स्वरूप की है, इसीलिए सभी धर्मों के आचार-विचार के लिए हिन्दू-धर्म में काफी अवकाश है।

"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥"

जो जिस स्वरूप में, ईश्वर की भक्ति करना चाहता है, उसकी श्रद्धा उसी ही स्वरूप में मैं दृढ़ करता हूँ। हिन्दू-धर्म की यह प्रतिज्ञा है। इसलिए जब हिन्दू-धर्म की व्याख्या इस प्रकार की जाय, कि हिन्दू वह जो मुसलमान, ख्रिस्ती वगैरह नहीं, तब तो हिन्दू-धर्म की इस प्रतिज्ञा को ही बिलकुल मिटा देने जैसा होगा।

यह बात सूत्ररूप से कहनी हो तो, बादरायण सूत्र 'नाभाव उपलब्धेः' द्वारा कही जायेगी। सृष्टि के दो विभाग कर लें तो इसमें से किसी भी एक विभाग में दूसरे विभाग का अभाव नहीं, क्योंकि इस सूत्र का अर्थ ही है कि, परस्पर के बीज परस्पर में उपलब्ध हैं। प्रकृति-सृष्टि की समन्वयात्मक दृष्टि इस सूत्र में ग्रथित की गयी है। हिन्दू-धर्म सनातन धर्म है, ऐसी घोषणा यदि सच है तो उपरोक्त सूत्र का भाष्य इस प्रकार होगा कि हिन्दू-धर्म में अन्य धर्मों का अभाव नहीं है, क्योंकि सभी धर्मों के सिद्धान्त और साधना हिन्दू-धर्म में बीज रूप से उपलब्ध हैं। और मेरी ऐसी मान्यता है कि सभी धर्मों के बारे में भी ऐसा ही भाष्य करना सम्भव होना चाहिए।

(३) हिन्दू-धर्म-ग्रंथ प्रामाण्य को नहीं मानता

'हिन्दू-धर्म की रचना,' यह शब्द-प्रयोग विरोधात्मक है। किसी एक समय, किसी एक व्यक्ति द्वारा किसी ग्रंथ के आधार पर हिन्दू-धर्म की स्थापना हुई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हिन्दू-धर्म की इमारत की रचना ग्रंथ-प्रामाण्य के आधार पर नहीं बनायी गयी। अनेक ग्रंथ हिन्दू-धर्म से जुड़े हुए हैं, किन्तु हिन्दू-धर्म किसी भी ग्रंथ से बँधा नहीं। ऋग्वेद आदि चार वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, स्मृतिग्रंथ, महाभारत आदि इतिहास, पुराण, सूत्र, दर्शन, भाष्य इत्यादि संस्कृत ग्रंथ, इसी प्रकार नानक का ग्रंथसाहब, कबीर का बीजक ग्रंथ, तुलसीदास की रामायण, तुकाराम की गाथा इत्यादि भाषाग्रंथ सभी, महद् अंश से हिन्दू-धर्म के ग्रंथ हैं। किन्तु हिन्दू-धर्म इन में से एक भी ग्रंथ का नहीं। इन ग्रंथों और हिन्दू-धर्म में द्वैत नहीं, अद्वैत ही है। किन्तु यह अद्वैत भी शंकराचार्य की षट्पदी में कथित अद्वैत के स्वरूप का है।

"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन् समुद्रो न तारंगः॥"

"भगवन्! आपका और मेरा अद्वैत का नाता है, किन्तु फिर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं। व्यवहार में देखिए समुद्र में तरंगें रहती हैं, तरंग में समुद्र रहता है" यही न्याय हिन्दू-धर्म के ग्रंथों के बारे में भी ठीक बैठता है।

किन्तु तब प्रश्न यह खड़ा होता है कि जब ऐसा ही हो तब वेद-प्रामाण्य का अर्थ क्या? पंडितजनों ने वेद में प्रामाण्यबुद्धि को हिन्दू-धर्म का विशेष लक्षण माना है। यहाँ तक कहा जाता है कि 'देव' (भगवान्) में विश्वास न हो तो चलेगा, किन्तु 'वेद' पर विश्वास तो होना जरूरी है। इसका क्या मतलब है? ऐसे प्रश्न खड़े होते हैं, इस पर जरा सूक्ष्म विचार करना होगा।

पुराण आदि ग्रंथों का अर्थ तो समझ पाते हैं, किन्तु वेदों का अर्थ तुरन्त ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। और वेदों का अर्थ करना शक्य नहीं, बल्कि वेदों का अर्थ करना ही नहीं चाहिए, इतना ही नहीं, वेदों का तो कोई अर्थ ही नहीं यहाँ तक का प्रतिपादन करनेवाले कई मीमांसक पहले हिन्दुस्तान में हो गये। इसके पीछे कुछ सिद्धान्त है। क्योंकि वेदों का अर्थ पवित्र और इतना ही गूढ़ है, इसी श्रद्धा से वेदों के प्रति प्रामाण्य-बुद्धि रखना मानसशास्त्र की दृष्टि से असम्भव नहीं। जिसे स्वस्तिक की आकृति में ब्रह्मदर्शन होता है, उसे वेद में ब्रह्म-दर्शन करना कोई मुश्किल काम नहीं। अर्थात् यह मूर्ति-पूजा हुई। शालिग्राम की पूजा करते समय यदि शालिग्राम की गोलाकार आकृति दिखेगी तो मूर्ति-पूजा व्यर्थ होगी। शालिग्राम को वर्तुलाकार देखना यह भौतिक ज्ञान है, मूर्ति-पूजा में मूर्ति का भौतिक स्वरूप दिखने पर भी देखना नहीं है। इसी प्रकार वेद-प्रामाण्य जब मूर्ति-पूजा के सिद्धान्त के आधार से स्वीकार करेंगे, तब वेदों का अर्थ न करेंगे तो भी चलेगा, बल्कि करना ही नहीं चाहिए।

किन्तु वेद-प्रामाण्य का जब इसी प्रकार अर्थ करेंगे तब वेदों का समावेश मूर्ति-पूजा विभाग में ही होगा। अब, मूर्ति-पूजा करनी ही चाहिए, ऐसा हिन्दू-धर्म का कहना नहीं है, और मूर्ति-पूजा करनी ही है, तब भी किसी एक ही मूर्ति का पूजन का आग्रह तो हिन्दू-धर्म में बिल्कुल नहीं है। उपासना के लिए आप कौन-सी मूर्ति पसन्द करें, इसके बारे में हिन्दू-धर्म का कोई भी बन्धन नहीं। तो फिर कोई वेद के स्थान पर गीता की मूर्ति पसन्द करे, तब उसे गीता के अर्थ तक का पता न हो, संस्कृत भाषा भी भले न जानता हो, फिर भी रोज गीता-ग्रंथ की पूजा करे तो, और उसे लगता हो कि गीता की पूजा करने से उसकी भावना पवित्र बनती है तो, वेद के बदले गीता की पूजा करे, इसमें भी हिन्दू-धर्म को कोई बाधा नहीं। ऐसे व्यक्ति को भी हिन्दू मानने से कोई इन्कार नहीं कर सकेगा।

इस प्रकार मूर्ति-पूजा रूप से भी वेद को ही प्रमाण मानना, ऐसा आग्रह हिन्दू-धर्म का नहीं। वेद की कितनी ही महिमा हिन्दू-धर्म में क्यों न हो फिर भी वेद-प्रामाण्य का अथवा वेद के प्रति पूज्यभाव की जबरदस्ती किसी पर भी हिन्दू-धर्म नहीं करता। इसी से वेद के स्थान पर गीता ही नहीं, किसी को बाइबिल भी प्रमाण लगता हो तब भी मूर्तिपूजा की दृष्टि से यह हिन्दू-धर्म को मान्य है।

हिन्दू-धर्म की यह बहुत बड़ी विशेषता है, ऐसा मैं मानता हूँ। ऐसा किसी दूसरे धर्म में मैंने नहीं देखा। सभी धर्मों में कई अच्छी चीजें हैं, यह मुझे पता है और उसे ग्रहण भी करता हूँ। फिर भी हिन्दू-धर्म की यह विशेषता मैंने दूसरे धर्मों में नहीं देखी। कोई ख़्रिस्ती कभी ऐसा नहीं कहेगा कि यदि तुम्हें बाइबिल पसन्द नहीं है तो उसे छोड़-कर दूसरा ग्रंथ ले लो। वह तो ऐसा ही कहेगा कि यदि तुम्हें बाइबिल पसन्द नहीं है तब तो तुम ख़्रिस्ती ही नहीं हो।

हिन्दू-धर्म ऐसा नहीं कहेगा। वह तो कहेगा कि तुम्हें वेद पसन्द नहीं है तो गीता पढ़ो, गीता पसन्द नहीं है तो रामायण पढ़ो, रामायण पसन्द नहीं है तो भागवत पढ़ो, और कुछ भी पसन्द नहीं है तो ठीक है, कुछ भी मत पढ़ो। इससे तुम्हारा हिन्दुत्व नहीं मिटेगा। इतनी उदारता है हिन्दू-धर्म में। हिन्दू-धर्म में अनेक ग्रंथ भरे पड़े हैं। कई ग्रंथों में तो एक-दूसरे से कई विरोधी बातें भी कही गयी हैं। किन्तु आप कोई भी ग्रंथ पढ़िए और इससे यदि आपकी चित्त-शुद्धि होती है तो वह हिन्दू-धर्म को मंजूर है। क्या रामायण-भागवत इतना ही पढ़ना मनुष्य का कर्तव्य है? मनुष्य का कर्तव्य तो चित्त-शुद्धि करना, आत्म-दर्शन करना है। निर्दोष हृदय ही सच्चा धर्म है। हृदय को दोषरहित, और चित्त को शुद्ध करने के लिए यदि ग्रंथ के द्वारा आप को मदद मिलती है तो ले लीजिए, न मिलती हो तो छोड़ दीजिए। हिन्दू-धर्म का इसमें कोई झगड़ा नहीं।

जैसे मुसलमानों का एक ही ग्रंथ है 'कुरान', ख्रिस्तियों का बाइ-बिल, इस तरह हिन्दू-धर्म का एक ही धर्म-ग्रंथ न होने से, इसकी शक्ति बिखर जाती है, ऐसा मानना भी बिल्कुल ठीक नहीं है। मैं तो मानता हूँ कि हिन्दू-धर्म के लिए कोई एक ग्रंथ-प्रामाण्य नहीं है, यही इसकी बड़ी शक्ति है। धर्म तो समुद्र है, समुद्र में सभी नदियाँ समा जाती हैं। हमें समन्वय करने की खूबी आनी चाहिए। उपनिषदों का समन्वय गीता ने किया, गीता का भागवत ने किया। हमें अब कुरान, बाइबिल और गीता का समन्वय करना है। जैसे समुद्र सभी नदियों को स्वीकार करता है, ऐसी ही वृत्ति हमारी होनी चाहिए। विवेकानन्द ने कहा है कि हमारा वेदान्त धर्म है। हम सभी उपासनाओं को समान भाव से देखते हैं। यही हमारी सबसे बड़ी शक्ति है।

वेद-प्रामाण्य की बात इस प्रकार व्यापक दृष्टि से देखनी है। वेद-प्रामाण्य हिन्दुत्व का कोई अनिवार्य लक्षण नहीं माना गया। जो वेद-प्रामाण्य पर जोर देते हैं, इनके भी चार ही वेद नहीं हैं, वह कहते हैं, अनंता वै वेदाः—वेद अनन्त हैं। यह अनन्त वेदों का ग्रंथ-प्रामाण्य से कोई सम्बन्ध नहीं। क्योंकि वे ग्रंथ ही नहीं हैं। ऐसी स्थिति में 'वेद' विशेष नाम न रहकर सामान्य नाम बनता है। और इसके अर्थ का स्वरूप 'आत्मिक ज्ञान' ऐसा होगा। 'वेद' शब्द का व्यापक अर्थ मानकर इनमें सभी सद्ग्रंथ समाविष्ट कर लेने हैं।

और फिर वह भी मूर्ति-पूजा के रूप में। इसमें किसी भी सद्-ग्रंथ को प्रमाण मानने की बात नहीं है। अर्थ का अनुसंधान किये बिना ग्रंथ को ब्रह्मरूप मानना यह मूर्ति-पूजा है, ग्रंथ-प्रामाण्य नहीं। ग्रंथ-प्रामाण्य का अर्थ है, ग्रंथ के अर्थ को ध्यान में रखकर ग्रंथ में जो कुछ कहा गया है, उसे स्वतः प्रमाण मान लेना। ऐसा ग्रंथ-प्रामाण्य हिन्दू-धर्म में कहीं भी नहीं है। हिन्दू-धर्म हर्गिज नहीं कहता कि ग्रंथ में जो कुछ कहा हो उसे सत्यासत्य का विचार किये बिना ही अक्षरशः मान्य कर लें, फिर

वह वेद ही क्यों न हो। शंकराचार्य कहते हैं **'न हि श्रुतिशतमपि शितोऽग्निरप्रकाशो वेत्ति ब्रुवन् प्रामाण्यमुपैति'**—अग्नि शीतल है, या अन्धकारमय है, ऐसा कहनेवाली सौ श्रुतियाँ निकलें, फिर भी वह प्रमाण नहीं हो सकता।

मान लीजिए कि अग्नि शीतल है, ऐसा एक श्रुति-वाक्य है। इस वचन को लेकर तीन अलग-अलग वृत्तियाँ होंगी। (१) ऐसा मानना कि यह वचन गलत है। ऐसी वृत्ति में सत्य-प्रीति और निर्भय-वृत्ति, ये दो बड़े गुण हैं। जो बुद्धि ग्राह्य न हो ऐसी बात को गलत कहने में कोई पाप नहीं। उल्टे, बुद्धि ग्राह्य न होने पर भी ऐसी बात को स्वीकार करने में ही पाप है। फिर भी इस वृत्ति में छिछलापन होना सम्भव है। चिकित्सक दृष्टि से ग्रंथ-परीक्षण करने की लगन में कहीं ऐसा होता है कि हम ग्रंथ के मर्म से ही वंचित रह जायँ। दूसरा, इसमें थोड़ी उतावली भी हो सकती है। यह सच है कि अग्नि शीतल है इस बात से अनुभव का मेल नहीं बैठता, फिर भी, थोड़े विचार की गुंजाइश रहती है कि हम इसका अर्थ ठीक से समझे हैं क्या ?

(२) इसीलिए कुछ गूढ़ अर्थ होना चाहिए, यह दूसरा विचार! हम अग्नि वगैरह शब्दों का जो अर्थ समझते हैं, इससे कुछ भिन्न अर्थ हो सकता है। ऋषियों का उद्देश्य ऐसा सूचित करना हो कि सत्यवादी मनुष्य को अग्नि भी नहीं जला सकती। ऐसा या कोई दूसरा गूढ़ अर्थ भी हो, जिसके बारे में विचार करना हमारा अधिकार ही न हो। श्रुति जब कहती है कि अग्नि शीतल है तब इसमें कोई गहरा अर्थ हो, उसे समझने का प्रयत्न करना है।

(३) अग्नि सचमुच शीतल है, ऐसा ग्रंथ-प्रामाण्य से मान लेना, और ऐसा होता भी है। गेलिलियो ने खगोल के बारे में खोज की, वह बाइबिल के पुराने करार के कई एक वचनों के अक्षरार्थ से विरुद्ध जा रही थी। इसीलिए गेलिलियो को बहुत सताया गया। योरप के इति-

ह्रास में इस बात का उल्लेख है। योरप में उन दिनों, धर्म-सम्प्रदाय की ऐसी वृत्ति थी। किन्तु हिन्दू-धर्म में ग्रंथ-प्रामाण्य को इस प्रकार का स्थान कभी नहीं मिला। इसलिए शंकराचार्य ने हिन्दू-धर्म की उदार नीति उद्‌घोषित कर दी कि श्रुति में सृष्टि-विज्ञान विषयक जो भी वचन हैं उन्हें अक्षरशः स्वीकार करना जरूरी नहीं।

वेदों के बारे में इन तीन वृत्तियों में ये तीसरी वृत्ति सत्य को संकुचित करनेवाली है। इसी से, हिन्दू-धर्म की कल्पना से सर्वथा विरुद्ध है। पहली वृत्ति में सत्य-प्रीति होने पर भी, तर्क के अप्रतिष्ठित मूल पर खड़े रहने से कब गिर पड़ेगी, इसका कोई भरोसा नहीं। हिन्दू-धर्म ने दूसरी भूमिका को इससे ज्यादा ग्राह्य माना है, और वह भी मूर्ति-पूजा की दृष्टि से।

एक बात समझ लेनी चाहिए कि पूज्य-बुद्धि और प्रामाण्य-बुद्धि में फरक है। जन्मदाता माता के प्रति पूज्य-बुद्धि रखना, यह मेरा पुत्रधर्म है, किन्तु माता का कहना सही हो या गलत, उसे प्रमाण ही मानना, ऐसी प्रामाण्य-बुद्धि का बन्धन स्वीकार करना कदापि धर्म नहीं है। हिन्दू-धर्म किसी भी ग्रंथ का, वेद का भी प्रामाण्य स्वीकार नहीं करता। वर्तमानकाल को भूतकाल से नियत करना यह प्रगति का अवरोध करने जैसा है। पुरातन शब्द को अनुभव की कसौटी पर परख लेना, यही योग्य होगा।

सच देखें तो जिसे हम धर्म-ग्रंथ कहते हैं वह पूरा-पूरा धर्म-विचार का भण्डार ही है, ऐसा नहीं। फिर चाहे वह हिन्दू-धर्म का हो, मुस्लिम-धर्म का हो, ख्रिस्ती-धर्म का हो या अन्य किसी भी धर्म का हो। बड़े-बड़े धर्म-ग्रंथों में भी ऐसे अंश हैं, जिसे हम आज की कसौटी पर परखेंगे तो वह धर्म-विचार या सद्-विचार रूप से मान्य नहीं होंगे। हम ऐसा नहीं कह सकेंगे कि महाभारत में जो कुछ भी लिखा है वह सब धर्म-विचार ही है। यही बात मनुस्मृति, कुरान, बाइबिल और

अन्य सभी ग्रंथों की है। वास्तव में हमारी वृत्ति सार ग्रहण करने की होनी चाहिए। संतरे का फल उत्तम फल है, किन्तु उसमें भी छिलके फेंक देने हैं, बीज निकाल देने हैं और जो सार रूप अंश है उतना ही ले लेना है। यह बात धर्म-ग्रंथों के लिए भी ठीक बैठती है। तब किसी भी ग्रंथ को प्रमाण मान कर चलना यह बात ही गलत है। हिन्दू-धर्म की यह भूमिका है, और वही योग्य भूमिका है।

(४) हिन्दू-धर्म किसी व्यक्तिविशेष के साथ जुड़ा नहीं

हिन्दू-धर्म जैसे कोई ग्रंथ-प्रामाण्य से मर्यादित नहीं, वैसे व्यक्ति-प्रामाण्य से भी मर्यादित नहीं। हिन्दू-धर्म की गठरी जैसे किसी ग्रन्थ विशेष के रूमाल में बँधी हुई नहीं, वैसे वह किसी व्यक्ति के खूँटी पर टँगी हुई भी नहीं। हिन्दू-धर्म का नाम किसी भी सत्पुरुष के नाम से जुड़ा नहीं है। जैसे ख़िस्ती-धर्म ईसामसीह से जुड़ा हुआ है, इस्लाम-धर्म पैगम्बर मुहम्मद के साथ जुड़ा हुआ है, इसी प्रकार भागवत-धर्म अलबत्ता, कृष्ण से जुड़ा हुआ है, किन्तु हिन्दू-धर्म न कृष्ण से जुड़ा है, न राम से जुड़ा है, न शिव से जुड़ा है। राम का भक्त, राम की भक्ति करता है और भागवत भी पढ़ता है, कृष्ण का भक्त, कृष्ण की भक्ति करता है और रामायण भी पढ़ता है। शिव-भक्त दोनों ग्रन्थ नहीं पढ़ता, सिर्फ शैव-मार्ग देखता है। इस प्रकार हिन्दू-धर्म किसी व्यक्ति विशेष के साथ बाँधा नहीं गया है। हिन्दू-धर्म के गाँव की रचना ही ऐसी की गयी है कि यहाँ किसी की भी चौधराई चल नहीं सकती।

हिन्दू-धर्म का निर्णय है कि **'धर्मस्य प्रभुरच्युतः'**–प्रमादरहित परमेश्वर ही धर्म का स्वामी है, अन्य सभी जीव प्रमादशील होने के नाते धर्म के सेवक हैं, धर्म पर इनकी सत्ता नहीं चल सकती। कइयों का मानना है कि सन्तों का शासन धर्म पर चलता है, क्योंकि सन्त भगवद्-अवतार ही हैं, भूदेव हैं। लौकिक दृष्टि से यह बात ठीक है, किन्तु खुद सन्त अपने आपको प्रमादातीत या अ-च्युत नहीं मानते क्योंकि

इनका अनुभव, 'दिल्ली बहुत दूर है' ही तो है। पृथ्वीवासियों को चंडूल पक्षी सूर्य तक पहुँचा-सा लगता है, इसलिए उन्होंने चंडूल को स्वर्ग-निवासी मान लिया, किन्तु स्वयं चंडूल इस योग्यता को स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि उसे पूरा ज्ञान है कि अपने और सूर्य के बीच बहुत ज्यादा फासला है।

स्थितप्रज्ञ की भाषा 'तरतम'-विवेक के साथ करनी होती है। 'स्थितप्रज्ञ' और 'अच्युत' परमेश्वर के अनन्य विशेषण हैं। यह किसी भी मनुष्य प्राणी के साथ जोड़े नहीं जा सकते। **मुनि पुराणानामपि सूक्ष्मापराध-दर्शनात्**-सूक्ष्म दृष्टि के लोगों से भी सूक्ष्म अपराध होते रहते ही हैं। सन्त पुरुष भगवान के अवतार हैं, ऐसा हिन्दू-धर्म ने ही कहा है। फिर भी 'अवतार' शब्द द्वारा ही सन्तों के प्रति पूज्य-बुद्धि भी प्रगट कर, धर्म के क्षेत्र में इनकी सापेक्ष योग्यता भी बता दी है। 'अवतार' में नीचे अवतरण की भावना होने के कारण सन्त भी धर्म के 'सेवक' हैं, 'नायक' नहीं।

कई एक तत्वज्ञ तो यहाँ तक पहुँचे हैं कि 'अब', धर्म की रचना कर लेने के बाद धर्म, प्रभु माने गये परमेश्वर का भी इस धर्म पर अधिकार नहीं, भले ही उसने खुद ही उसे उत्पन्न किया हो, और कवियों ने भी भगवान् को नोटिस दे रखी है, कि 'यदि विष्णु भी कभी च्युत हो जाय तो लक्ष्मी इनका घर छोड़कर चली जायेगी।' तीरंदाज को किसी भी दिशा में तीर फेंकने की स्वतंत्रता तब तक रहती है, जब तक वह तीर छूटा नहीं। किन्तु एक बार तीर तीरंदाज के हाथ से निकला कि फिर उस पर तीरंदाज की कोई सत्ता नहीं चलती। इसी प्रकार धर्म का वाण जब तक भवितव्यता के तरकश में रखा रहता है, तब तक अथवा वर्तमानकाल के धनुष पर चढ़ाया गया हो तब तक ईश्वर की उस पर **'कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुम्'** सत्ता चलती है। किन्तु एक बार वह भूतकाल के वातावरण में चला

गया तो वह ईश्वर के अधिकार से बाहर निकल गया। वैसे तो परमेश्वर के अधिकार की मर्यादा नहीं होती। फिर भी लोकसंग्रह की दृष्टि से जरूरी है कि परमेश्वर स्वयं ही अपने अधिकार की कुछ मर्यादा को पालन करें।

ईश्वर की बात तो छोड़ दें, हिन्दू-धर्म का पक्का निर्णय है कि धर्म पर किसी भी व्यक्ति का चाहे वह कितना भी सिद्ध-पुरुष ही क्यों न हो, उसका भी कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि सिद्ध पुरुष की सिद्धि भी धर्म के अनुष्ठान द्वारा ही प्राप्त हुई है। इसलिए हिन्दू-धर्म की दृष्टि से तो सन्त भी धर्म के प्रति जिम्मेदार हैं, धर्म सन्तों के प्रति जिम्मेदार नहीं। धर्म परमेश्वर के प्रति जिम्मेदार है। समाज की आँखें हैं सन्त, प्रकाश है धर्म, और धर्म का सूर्य है ईश्वर। हिन्दू-धर्म में इन तीनों का इस प्रकार का रिश्ता माना है।

गीता में कहा गया है, '**कर्मण्यैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः**-जनकादि ने कर्म द्वारा सिद्धि प्राप्त की है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए शंकराचार्य ने व्यक्ति-निरपेक्ष भाष्य किया है कि जनक आदि ब्रह्मज्ञानी हों तो फलां अर्थ लेना, और न हों तो फलां अर्थ। अर्थात् जनकादि के ब्रह्मज्ञान को भी संशय में डाल दिया।

हिन्दू-धर्म ने ग्रंथ-प्रामाण्य और ग्रंथ-पूजा में जिस प्रकार और जिस कारण से फरक किया है, उसी प्रकार और उसी कारण से व्यक्ति-पूजा और व्यक्ति-प्रामाण्य में भी हिन्दू-धर्म ने फरक किया। इसी वास्ते जनकादिकों के लिए पूज्य-भाव कायम रखते हुए भी शंकराचार्य स्वतंत्र भाष्य कर पाये।

हिन्दू-धर्म किसी भी व्यक्तित्व के वृक्ष पर की आधारित अमरलता नहीं है। वह एक स्वतंत्र वृक्ष है और उसकी अनन्त शाखाएँ हैं, जिस पर असंख्य द्विजगणों के संगीत-सम्मेलन सम्पन्न हुए हैं। हिन्दू-धर्म किसी मनु या किसी मानव पर आधारित नहीं है। हिन्दू-धर्म पौरुषेय

नहीं है। इसलिए यद्यपि उसके पवित्र प्रवाह में अगणित सत्पुरुषों ने स्नान किया है, फिर भी उसका कोई हिसाब हिन्दू-धर्म में नहीं।

भगवान् के मनोमय अवतारों की गिनती करते, गीता में जो संख्या दी गयी है—'**महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा**' पहले के सात महर्षि और चार मनु। किन्तु हिन्दू-धर्म ने ऐसे असंख्य ऋषियों के कुल देखे हैं, इसीलिए इन संख्याओं का अर्थ स्पष्ट करने में सभी भाष्यकारों को मुसीबत हुई है। महर्षि कौन, सप्त कौन, पहला कौन, चार कौन और मनु कौन? सभी अनिश्चित! किन्तु हिन्दू-धर्म को व्यक्ति विशेष का महत्त्व न होने के कारण, गीता ने ही कहा है कि इस ज्ञान का निरर्थक बोझ ही क्यों? किन्तु इतना मान्य किया है कि, '**सिद्धानां कपिलो मुनिः**—सिद्ध पुरुषों में कपिल मुनि श्रेष्ठ हैं। फिर भी, इतने मात्र से हिन्दू-धर्म में ऐसी मान्यता का बन्धन नहीं है कि कपिल मुनि का मत ही प्रमाण मानना चाहिए।

व्यक्ति कोई भी हो, छोटी या बड़ी, मर्यादा से बँधा होता है। किसी व्यक्ति में घड़ाभर ज्ञान होगा, तो किसी व्यक्ति में ज्ञान का सागर होगा। फिर सागर भी आखिर में क्या है? बहुत बड़ा घड़ा ही न! हिन्दू-धर्म बड़ा या छोटा घड़ा नहीं, वह तो अ-तल और अ-सीम सागर है। जिस प्रकार आकाश एक ही स्थान पर रहता हुआ, जोरों से चलती हवा को पीछे छोड़ देता है, उसी प्रकार ही हिन्दू-धर्म की स्थिर गति, व्यक्ति की चंचल गति को अपने एक कोने में ही समाविष्ट कर लेती है। हिन्दू-धर्म न तो सगुण ईश्वर से जुड़ा हुआ है, न ही निर्गुण ईश्वर से। इतना ही नहीं, वह ईश्वर से भी जुड़ा नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है।

(५) हिन्दू-धर्म का विचारपूर्वक समग्र आयोजन

हिन्दू-धर्म में परमेश्वर के विषय में जितना गहन और सर्वांगीण विचार हुआ है, उतना शायद किसी दूसरे दर्शन और धर्म में नहीं

हुआ। परमेश्वर एक ही हो सकता है, और एक ही है, इस विषय में सभी धर्म एकमत हैं। हिन्दू-धर्म का भी यही मत है किन्तु इस विषय में हिन्दू-धर्म की वृत्ति आग्रह की नहीं है। क्योंकि, ईश्वर शब्द-शक्ति से परे है, चिंतनशक्ति से भी परे है, फिर भी ईश्वर को समझने के लिए शब्दों का यत्-किंचित् उपयोग करते हैं। अब यह वर्णन और चिंतन एक ही रूप से नहीं, अनेक रूप से हो, तो कोई हर्ज नहीं है, ऐसा समझकर हिन्दू-धर्म ने इस प्रकार का कोई आग्रह नहीं रखा।

इस प्रकार हिन्दू-धर्म में ईश्वर के विषय में विविध रूप से चिंतन हुआ है। इस कारण कभी-कभी ऐसा भ्रम खड़ा हुआ है कि--हिन्दू लोग अनेक देवी-देवताओं को मानते हैं। सच देखें तो ऐसी बात नहीं। परमेश्वर की एकता अत्यन्त अद्वितीय है, अर्थात् अद्वितीयता में दूसरी कोई भी चीज सहन ही नहीं की जा सकती, यह हिन्दू-धर्म जानता है। उपनिषद् में कहा भी गया है कि **'एकमेवाद्वितीयम्'**—ईश्वर एक ही है, दूसरा नहीं। **'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'** समस्त सृष्टि का पति एक ही है। यह ऐसा परमेश्वर है, जो शब्दों से परे है।

यानी, हिन्दू-धर्म में अनेक ईश्वर का विचार नहीं है, किन्तु एक ही ईश्वर की अनेक विभूतियों का चिंतन इसमें हुआ है। परमेश्वर को करुणा के रूप में देखते हैं, कोई निर्भयता के रूप में उसका चिंतन करता है। इस प्रकार हरएक की जरूरत के मुताबिक परमेश्वर का रूप अलग-अलग बना है। परमेश्वर ने हमें पैदा किया है यह भी सच है, और परमेश्वर को हम पैदा करते हैं यह भी सच है। जिस पर-मेश्वर को हम ग्रहण करते हैं, वह हमारे लिए तो पूर्णावतार है। सच तो यह है कि वह परिपूर्ण परमात्मा का एक अंश मात्र है, एक विभूति मात्र है। विद्याध्ययन में रत व्यक्ति के लिए भगवान् का रूप सरस्वती है। कमजोर व्यक्ति के लिए ईश्वर शक्तिरूप धारण करता है। फिर यह सब गुण लक्षणों को अलग-अलग नाम दिया जाता है, और उस

नाम से विविध देवताओं की कल्पना की जाती है। इस प्रकार कल्पना से परमेश्वर के अनेकविध रूप निर्मित होते हैं। इसी में से कोई व्यक्ति एक कल्पना मान्य कर परिपूर्ण ईश्वर का उसी में ध्यान करता है, भले ही वह ईश्वर की सिर्फ एक विभूति की कल्पना हो, तब भी भक्त के लिए तो वह पूर्णावतार ही है।

हमारा गाँव समस्त विश्व का एक अंश है। फिर भी ग्रामसेवक के लिए तो वह एक परिपूर्ण वस्तु है। एक गाँव की सेवा में वह समग्र जगत् की सेवा कर सकता है। दुनियाभर में ज्ञान और सेवा के जितने विषय हैं वह सबके सब एक गाँव की सेवा में समाविष्ट हो सकते हैं। शिव, परमेश्वर का एक अंश है। विष्णु परमेश्वर का एक अंश है, फिर भी शिव-उपासक शिव को और विष्णु-उपासक विष्णु को, एक अंश नहीं मानेगा, वह तो उसे परिपूर्ण मानकर ही उपासना करता है। जो व्यक्ति जिस रूप में ईश्वर की उपासना करता है, उस रूप में वह परिपूर्णता का आधार मानता है। वह ईश्वर के दूसरे रूपों का निषेध नहीं करता, किन्तु अपने ध्यान के लिए तो वह एक ही रूप से चिपका रहता है।

इसी प्रकार एक ही हिन्दू-धर्म में अनेकविध उपासनाएँ चलती हैं, फिर भी वह सभी उपासनाएँ अनेक देवताओं की नहीं, एक ही देवता की मानकर की जाती हैं। परमेश्वर के एक अंश को परिपूर्ण मानकर उपासना होती है। कभी-कभी पंचायतन पूजा भी करते हैं। शंकर, विष्णु, गणपति, शक्ति, सूर्यादि की पंचभक्ति करते हैं। तब वह पंचायतन को पाँच परमेश्वर नहीं, एक ही परमेश्वर मानते हैं, इसलिए पंचायतन-पूजा करते हैं।

ऐसा सभी कर सकते हैं। मनुष्य जब सुबह उठकर वेदाध्ययन करता है, उस वक्त वह ईश्वर को सरस्वती के रूप में देखता है। वही मनुष्य जब खेत में काम करेगा तब वह ईश्वर को लक्ष्मी के रूप में

देखेगा। फिर घर में, परिवार की सेवा करेगा तो ईश्वर की माता रूप में, देवी के रूप में उपासना करेगा। इस प्रकार वह एक ही मनुष्य ईश्वर के विविध गुणों की उपासना कर सकता है। ऐसे ईश्वर की अनेक विभूतियों का एकत्र ध्यान-उपासना हो सकती है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह मनुष्य, एक परमेश्वर को मानने के बजाय, दो-चार परमेश्वर को मानता है।

यह बात ठीक-ठीक न समझने से लोगों के दिलों में हिन्दू-धर्म के बारे में गलतफहमी खड़ी होती है। हिन्दू-धर्म में तो देवी-देवताओं का बाजार ही खड़ा किया गया है, अनेक प्रकार की उपासना-विधियों की मण्डी लगायी गयी है, ऐसा वे मानते हैं। किन्तु सच देखें तो यह देवी-देवताओं का बाजार नहीं, यह तो ईश्वर के अनेकविध गुण और विभूतियों का संग्रह करने की वृत्ति है। इसलिए वेदों ने कहा है कि **'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'**—सत्य एक है, किन्तु उपासक एक ही सत्य की अनेक प्रकार से उपासना करता है।

दूसरी बात मण्डी में तो हरएक प्रकार की चीजें, वस्तुएँ तो रहेंगी ही। किन्तु मण्डी की हरएक वस्तु हरएक व्यक्ति को खरीदना जरूरी है, ऐसा कोई नियम तो नहीं। इतना ही नहीं, हिन्दू-धर्म को तो इस मण्डी में कोई न जाय तो भी कबूल है। **अंतरा चापि तु तद्दृष्टेः**, इस सूत्र में सूत्रकार ने स्पष्ट कह दिया है कि वर्णाश्रम की मण्डी में, एक भी चीज बिना खरीदे, मोक्ष का उत्सव मनाया जाता है और आगे, **'अपि च स्मर्यते'** सूत्र में कहा है कि संस्कार का जाल बुननेवाली स्मृतियाँ भी इस सिद्धान्त से सहमत हैं।

अन्ततः हिन्दू-धर्म का कहना है कि संस्कारादि के झमेले में बिना पड़े ही, केवल मनुष्य मात्र को चरितार्थ करनेवाला मानवता का धर्म ही व्यक्ति यदि श्रद्धा से आचरण करेगा तो इतने मात्र से ही मनुष्य पर ब्रह्मविद्या का अनुग्रह हो सकता है। मनु ने भी मनुष्य के धर्म-लक्षण निम्न प्रकार से बताये हैं।

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।

इतने का सम्पूर्ण पालन करनेवाला पुरुष दूसरा कुछ करे या न करे वह हिन्दू-धर्म को मान्य है।

सारांश, मण्डी में जाना कर्तव्य नहीं है, अनिवार्य भी नहीं है। मण्डी का निर्माण सुविधा के लिए किया गया है। जिसको, घर के आँगन में ही केला उगाने की शक्ति है, वह केला जरूर खाये, हिन्दू-धर्म को तो इससे ज्यादा खुशी ही होगी। किन्तु ऐसी शक्ति जिनके पास नहीं है, ऐसे सर्वसाधारण मनुष्यों के लिए, मण्डी लगायी जाती है। इसका उपयोग सर्वसाधारण जन जरूर कर ले इतना ही हिन्दू-धर्म का कहना है।

दूसरी एक बात, बाजार से जब चीजें खरीदना तय करें तो इस बाजार में विविध चीजें रखी हैं। विशेषता यहाँ यह है कि यहाँ के खरीददारों की सुविधा का इतनी बारीकी से ख्याल किया गया है कि यह पूरा 'अपनी मर्जी का सौदा' बन जाता है। जिस प्रकार बाजार में दैनंदिन उपयोग की कई चीज़ें, कई त्यौहारों में उपयोगी कई चीजें और कई मौज-मजा की चीजें रखी होती हैं। उसी प्रकार हिन्दू-धर्म के खोले गये स्मृतियों के बाजार में भी कई तो नित्य के, कई नैमित्तिक और कई काम्य कर्मों के नमूने रखे गये हैं। सम्पूर्ण मानव-समाज की भिन्न-भिन्न प्रकृति-प्रकार को ध्यान में रखकर ऐसा करना पड़ा है। फिर भी आज के बाजार जैसी कृत्रिम जरूरत खड़ी करने का इरादा नहीं है, इतना ही नहीं, यहाँ तो जरूरत जितनी हो सके उतनी कम करके व्यक्ति उत्तरोत्तर स्वावलम्बी बने, यह योजना है।

हिन्दू-धर्म का अंतिम उद्देश्य तो मनुष्य को सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त करने का ही है, इसी से नये बन्धन हर्गिज खड़े करने का नहीं। फिर भी गर्भवास के भीषण अन्धकार से अभी-अभी ही बाहर

आये नवजात शिशु को एकदम सूर्य-प्रकाश में रख देने की उतावली नहीं करनी चाहिए। प्रकाश में आने के लिए कुछ काल तक उसे अन्धेरे में रखना ही पड़ता है। जैसे-जैसे उसकी आँख को प्रकाश का अभ्यास हो जाय, वैसे-वैसे उसके प्रकाश-दर्शन की मात्रा बढ़ाते जाना है। ऐसे ही कामक्रोधादि के अन्धकारमय डोली में रहनेवाले को मुक्ति का शुद्ध दर्शन कराने से पहले या तो कराने के लिए उसे विशिष्ट संस्कार-विधि के मिश्र वातावरण में ले जाना जरूरी लगा इसलिए हिन्दू-धर्म ने कई एक आचार-विधियाँ खड़ी की हैं। फिर भी इन विधियों के वन्धन में न तो हिन्दू-धर्म स्वयं बँधा है, न ही किसी को बाँधना चाहता है। **'विस्मृत्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु'**– मेरे कथन पर पूरा-पूरा विचार करने के बाद जैसी तेरी मर्जी होगी वैसा कर–इस गीता-वचन के मुताबिक हिन्दू-धर्म ने इच्छा-स्वातंत्र्य की जिम्मेदारी व्यक्ति मात्र पर रख दी है।

हिन्दू-धर्म में ऐसे गहन और वैचारिक समग्रता का आयोजन किया गया है।

(६) सहजस्फूर्त मानव-धर्म पनपता रहे !

हिन्दू-धर्म को यदि किसी ने मजबूत बनाया है तो वह शंकराचार्य ने। जो काम भगवान् बुद्ध ने किया वही उन्होंने आगे बढ़ाया। बुद्ध के काल में यज्ञयाग कर्मकाण्ड चलते थे। लोग हत्या करते थे और परमेश्वर को उसी का भोग चढ़ाते थे। ऐसी निष्ठुरता का भी लोगों ने धर्म नामकरण कर दिया। बुद्ध ने इसी पर प्रहार किया। शंकराचार्य ने भी कर्मकाण्ड पर सीधा प्रहार किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि इसी देह में और इसी जीवन में ही हृदय-शुद्धि और आत्मानुभूति मिल सकती है, यही सच्ची शुद्धि है और यही है धर्म का सार।

शंकराचार्य ने कर्मकाण्ड से हमें मुक्त कर दिया। फिर भी कहीं-कहीं कर्मकाण्ड चलते हैं। किन्तु ये धर्म के मूलतत्त्व नहीं हैं, यह बात

शंकराचार्य ने बिलकुल प्रस्थापित कर दी। हिन्दू-धर्म में किसी बात को लेकर आग्रह नहीं है, इसीलिए कर्मकाण्ड चले ही नहीं, ऐसा आग्रह भी नहीं है। जैसे मूर्तिपूजा में आपका विश्वास है तो मानिये, न हो तो मत मानिये। इतना परम औदार्य हिन्दू-धर्म में है। इसका ज्यादातर श्रेय शंकराचार्य को है। हिन्दू-धर्म के लिए यह कोई नयी बात नहीं। किन्तु जो वेद-उपनिषद् के अन्तर्गत थी उसे उन्होंने जनता के सामने फिर से भारपूर्वक रखा और अनेक प्रकार के वचनों के बीच का विरोध खतम कर दिया। उन्होंने कर्मकाण्ड का विरोध किया।

इससे हिन्दू-धर्म में जैसे किसी भी सन्त या ग्रंथ का बन्धन नहीं है। वैसे किसी आचार-विशेष या पंथ का भी बन्धन नहीं। गठरी विशिष्ट ग्रंथ की रूमाल में बँधी नहीं, अथवा विशिष्ट सन्त की खूँटी पर टँगी नहीं, इसमें विशिष्ट पंथ के परिपत्र हो यह ख्याल भी करना उचित नहीं। ऐसे धर्म के घनफल का नाप, ग्रंथ, पंथ और सन्त के साम्प्रदायिक गुणों द्वारा निकालने की आशा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि हिन्दू-धर्म साम्प्रदायिक ही नहीं है। इसका न तो कोई एक ग्रन्थ है, न एक पंथ है, न एक सन्त है।

गीता ने भगवद्भक्त का वर्णन करते समय 'अ-निकेत' यानी जिसका घर नहीं, ऐसा विशेषण इस्तेमाल किया है। ज्ञानेश्वर महाराज ने उसे उलटाकर ऐसा अर्थ किया है-'यह विश्व ही मेरा घर, ऐसी जिसकी स्थिर मति।' हिन्दू-धर्म भी इसी अर्थ से 'अ-निकेत' है, और इसलिए सार्वभौम है।

हिन्दू-धर्म का मूल विचार वैश्वानर तत्व पर आधारित होने से हिन्दू-धर्म स्वभाव से ही मानव-धर्म बना है। मनु ने भी व्यापक कल्पना की है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्व मानवः ॥

इस देश में यानी आर्यावर्त में जन्मे महापुरुषों से पृथ्वी के सभी मनुष्य आचरण सीखेंगे। हिन्दू-धर्म का शंख 'पाँचजन्य' है, अर्थात् हिन्दू-धर्म का सन्देश समस्त मानवजाति के लिए कहा गया है। और यह तो स्पष्ट ही है कि जो 'पाँचजन्य' के लिए होगा, वह 'देवदत्त' ही होना चाहिए। 'जैसी योग्यता वैसा उपदेश'—इस न्याय से हिन्दू-धर्म ने सरस्वती उपासकों से लेकर दृषद्वती के उपासकों तक सभी को मंत्रोपदेश दिया है।

इस प्रकार हिन्दू-धर्म मूलतः मानव-धर्म है। इसका स्वरूप साम्प्रदायिक नहीं है, इसीलिए इसका कोई एक ग्रंथ नहीं, न कोई एक पंथ है, न कोई एक सन्त है। हिन्दू-धर्म में सिर्फ दो बातें मुख्य हैं : एक, ब्रह्मविद्या, जिसे वेदान्त कहते हैं और दूसरी, भूतदया। ये दो बातें जहाँ न हों वह हिन्दू-धर्म नहीं हो सकता। शंकराचार्य ने एक स्तोत्र बनाया है, हर दिन उनके मठों में इसका पाठ होता है। वह षट्पदी प्रार्थना है, इसमें का एक श्लोक-**अविनयमपनय विष्णो, दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्। भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥** अर्थात् भगवन्! तू मेरी भूतदया का विस्तार कर, इसलिए 'ब्रह्मविद्या, भूतदया' इन दोनों शब्दों में हिन्दू-धर्म का सार है।

और वैसे देखने जायँ तो इन दो शब्दों में सभी धर्मों का सार भी मिल जाता है। हमें धर्म को मठों या मन्दिरों तक सीमित नहीं रखना, न ही उसे स्थितप्रज्ञ के सुपुर्द कर देना है, बल्कि धर्म को हमें समाज के दैनंदिन व्यवहार में लाना है। वैसे हमें जमीन का वितरण करना है, सम्पत्ति का वितरण करना है, वैसे धर्म का भी समाजव्यापी वितरण कर देना है। 'मेरा धर्म क्या है'—यह किसी शास्त्रकार से पूछने की जरूरत नहीं, धर्मग्रंथों में ढूँढ़ने की भी जरूरत नहीं, यह तो मनुष्य को स्वयंभू ही समझ में आने की बात है। क्या कभी कोई माँ किसी शास्त्रकार से पूछने जाती है, या किसी मनुस्मृति में देखने जाती

है कि बच्चे को दूध पिलाना यह मेरा धर्म है या नहीं ? अपना धर्म उसे सहज मालूम होता है। वैसे ही प्रेम, दया आदि धर्म भी मनुष्य को सहज रीति से स्फुरित होने चाहिए। इसलिए किसी गीता या मनुस्मृति में अथवा किसी शास्त्रकार को देखने, पूछने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। ऐसा सहजस्फूर्त मानव-धर्म अब पनपना चाहिए।

ऐसा धर्म जो मनुष्य के श्वासोच्छ्वास के साथ बुना जाय। श्वास लेना एक पलभर भी हम छोड़ सकेंगे क्या ? ऐसा ही धर्म होना चाहिए कि मानवधर्म छोड़कर एक क्षण भी मनुष्य टिक न सके। सम्प्रदायों से ऊपर उठा हो ऐसा मानव-धर्म अब सर्वत्र फैलना चाहिए।

(७) झगड़ा धर्मों के बीच नहीं, अधर्मों के बीच होता है

आज ऐसी दशा है कि धर्म के नाम से झगड़े चलते हैं। दो धर्मों के नाम पर दोनों के बीच झगड़े होते हैं, और एक ही धर्म के अन्दर भी परस्पर झगड़े होते हैं। हिन्दू आपस में झगड़ते हैं, मुसलमानों में शिया और सुन्नी के बीच झगड़ा है। ख्रिस्तियों में भी रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टण्ट के बीच झगड़ा है। आयरलैण्ड में तो कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट के बीच भारी झगड़ा हुआ। वह भी धर्म के नाम पर, ईशु के नाम पर ! जिस ईशु ने कहा कि यदि कोई एक गाल पर थप्पड़ मारे, तो दूसरा गाल आगे करो, और स्पष्ट शब्दों में कहा कि शत्रु से प्रेम करो, उसी ईशु के नाम पर झगड़े चले। इस प्रकार धर्म के नाम पर बड़ा गलत काम दुनियाभर में चला है। आज की यह हालत हमें बदलनी है।

अब, मेरा ऐसा कहना है कि दो धर्मों के बीच कभी भी झगड़ा नहीं होता। जो झगड़ा होता है वह दो अधर्मों के बीच होता है, और सभी धर्मों का अधर्म के साथ झगड़ा है। तो मूल में जो काम करना

है वह यह है कि जो उत्तम धर्म है उसे समाज में सर्वत्र फैलाना है और समाज में से अधर्म को खतम करना है। धर्म का सम्पूर्ण समाजीकरण हो जाय तो प्रेम, दया, विश्वबन्धुत्व, भक्ति आदि धर्म के उत्तम तत्व समाज में पूरी तरह फैल जाय। हमें सभी को धर्म-निष्ठ बनाना है।

आज तो धर्म का सिर्फ नाम है, धर्म का काम ज्यादातर दिखायी नहीं देता। हिन्दू-धर्म के नाम पर करोड़ों लोग हैं, इस्लाम-मजहब के नाम पर करोड़ों हैं, खिस्ती-धर्म के नाम पर करोड़ों लोग हैं किन्तु धर्म का काम करने के लिए कितने लोग हैं ? हम उम्मीद रखते हैं कि धर्म सिर्फ नाम का नहीं, काम का हो। हम बोलते हैं अद्वैत की भाषा, केवल मनुष्य ही नहीं, किन्तु समस्त पशुसृष्टि और वनस्पति-सृष्टि भी एक है ऐसा कहते हैं, किन्तु व्यवहार में हृदय संकीर्ण कर लेते हैं। आचार-विचार का यह भेद अब मिटा देना है। इसी प्रकार धर्म-धर्म के बीच का भेद भी मिटा देना है। हमें जैसे जमीन सबकी माननी है, इसी प्रकार धर्म भी सभी का बनाना है।

परदुःखेन दुःखिताः विरलाः (पर दुख से दुखी बिरले ही होते हैं) ऐसा कहना पड़ता है, यह मानव जाति के लिए कलंकरूप है, बल्कि कहना तो यह चाहिए कि मानव का मूल लक्षण है, दूसरों के दुख से दुखी होना। दूसरों के दुख से जो दुखी न हो ऐसे सख्त हृदय का मनुष्य मिलना दुर्लभ है, उल्टे ऐसा कहना पड़े, ऐसी स्थिति हमें लानी है ! ऐसा धर्मतत्व हमें समाज में फैलाना है।

ऐसे धर्मतत्व के बारे में धर्म-धर्म के बीच कोई झगड़ा नहीं। सभी धर्म यही बात कहते हैं। मनुष्य को मनुष्य की तरह रहना सीखने के लिए तो धर्म है। और ऐसे धर्म का हमें गौरव है। आज हम गैर-साम्प्रदायिकता की बात करते हैं, इसमें भी ऐसे धर्म का अवश्य स्थान है।

मुझसे किसी ने कहा कि हममें से ज्यादातर लोगों का 'हिन्दू-माइन्ड' है। तो मुझे कहना चाहिए कि मेरा अपना हिन्दू-माइन्ड अवश्य है, किन्तु मुझसे कोई पूछे कि हिन्दू-माइन्ड का मतलब क्या है तो मैं जो परिभाषा करूँ, उसे आप ख्रिस्त-माइन्ड भी कहेंगे, मुसलमान-माइन्ड भी कहेंगे, बौद्ध-माइन्ड भी कहेंगे। मतलब कि हिन्दू-माइन्ड का सही अर्थ समझना है। हिन्दू-शब्द के साथ कोई अनादर नहीं है। हिन्दू-धर्म सर्व समावेशक (inclusive) है—तत्वतः आचारतः नहीं। तत्व और आचार में बड़ा अन्तर है, जैसे कि दूसरे धर्मों में भी है। किन्तु जहाँ तक तत्व का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो हिन्दू-धर्म तत्वज्ञान का नाम ही 'वेदान्त' है, यानी वेदों का अन्त। इसका मतलब है, बाइबिलांत, कुरानांत, धम्मपदांत, सभी का अन्त। पुरानी काल्पनिक मान्यताएँ टूट जाती हैं और मनुष्य का जो मूल आत्म स्वरूप है इसका चिंतन होता है। यह हिन्दू-विचार है और ऐसे हिन्दू-माइन्ड का मुझे अभिमान है। इसी प्रकार सब धर्मों के मूलभूत विचार हमें ग्रहण कर लेने हैं।

हमारी इस भारतभूमि पर भगवान का महान् उपकार है कि यहाँ असंख्य सत्पुरुष आये और इन्होंने समाज में धर्म-तत्व का प्रचार-प्रसार किया। भगवान् की यह बड़ी कृपा है कि यहाँ दूसरे धर्म भी आये। इस्लाम, ख्रिस्ती और पारसी धर्म यहाँ बाहर से आये। इसी प्रकार यहाँ के बुद्ध-धर्म का विचार बाहर के देशों में फैला। यानी कि यह भारत-भूमि विविध धर्मों के समन्वय की भूमि है। धर्म-धर्म के बीच आदान-प्रदान की भूमि है। इस भूमि का यह एक बड़ा भाग्य है, यह भाग्यवान भूमि है।

रामकृष्ण परमहंस ने इस्लाम, ख्रिस्त वगैरह अन्य धर्मों की भी उपासना की थी। उसकी साक्षात् अनुभूति प्राप्त करने की साधना की थी। और अपने जीवन में सर्व धर्मों का समन्वय उन्होंने पाया था। इन्होंने विविध धर्मों की उपासनाओं का अध्ययन किया, अनुशीलन-

परिशीलन किया। इन उपासनाओं द्वारा जो अनुभूतियाँ हुईं, उसका चिंतन-मनन किया और सभी धर्मों को आत्मसात् करने की साधना की।

मैंने भी सभी धर्मों का खूब प्रेम से और बड़ी गहराई से अध्ययन किया है। सभी धर्मों की विशेषताएँ देखने की कोशिश मैंने की है और उनका सार ग्रहण किया है। सभी धर्मों की उपासना-प्रणाली भिन्न-भिन्न है, वह सभी मुझे परायी नहीं, मेरी ही लगी है। हिन्दू सूर्य को देखकर प्रार्थना करता है, इसीसे सुबह पूर्व दिशा में मुँह करता है और शाम को पश्चिम की ओर। मुसलमान कहता है कि काबा की ओर मुँह करके बैठना। काबा इन्हीं का सबसे बड़ा धर्म-स्थल है। इसका स्मरण करना इन्हें प्रिय है। इसी से वह पश्चिम की ओर मुँह करके नमाज पढ़ते हैं। इससे क्या बिगड़ा? कोई कहेगा, घुटने टेककर प्रार्थना करिए, तो कोई कहेगा पद्मासन लगाकर करिए। मुझे दोनों में कोई एतराज नहीं है। मैं तो अपनी पदयात्रा में चलते-चलते भी प्रार्थना करता था। सुबह यात्रा शुरू होते ही हमारी सामूहिक प्रार्थना चलते-चलते ही शुरू हो जाती थी। मैंने बीच में चरखे से कताई करते-करते प्रार्थना चलायी थी। यानी प्रार्थना, उपासना आदि पद्धतियों में तो ऐसे छोटे-छोटे फर्क रहेंगे। रहने दीजिए, इसमें कोई तकलीफ नहीं। वह रीति-रस्मों के भेद हैं, धर्म के भेद नहीं। सभी धर्मों की राह एक ही है।

दूसरा, मेरा तो कहना ऐसा है कि एक आदमी कोई फलां उपासना-पद्धति को ही स्वीकार कर ले, ऐसा भी क्यों होना चाहिए। हरएक आदमी को जब भी और जैसी उपासना करनी हो, उसे सभी प्रकार से स्वातंत्र्य होना चाहिए। मंदिर में जानेवाला मस्जिद में न जाय और मस्जिद में जानेवाला चर्च में न जाय, ऐसा क्यों? किसी को भी कहीं भी जाने से रोकना नहीं चाहिए। जिसको जो रीति पसन्द हो उसी

रीति से वह ईश्वर की उपासना करे। उपासना के बारे में कोई बन्धन न हो। यह सभी उपासना-पद्धतियाँ एक-दूसरे की परिपोषक हैं, ऐसा ही मुझे लगा है।

मैं तो और भी एक कदम आगे बढ़ना चाहूँगा। इन्सान का धर्म भी उसके जन्म से ही क्यों तय होना चाहिए? हरएक व्यक्ति कुछ समझदार बनें, तब १८ साल की उम्र में अपने-आप पसन्द कर ले कि स्वयं को कौन-सा धर्म स्वीकार करना है। अथवा चाहे तो कोई भी धर्म स्वीकार नहीं करना, ऐसा होना चाहिए। व्यक्ति का धर्म जन्म-जात नहीं, अपनी खुद की पसन्दगी का हो। तो, एक ही घर में अलग-अलग धर्म के व्यक्ति हों, ऐसा भी सम्भव है। जैसी जिसकी पसंद! जन्म से ही फलां धर्म नहीं मानना चाहिए।

एक ही घर में अलग-अलग धर्म के व्यक्ति प्रेम से साथ रहें, यह कल्पना भी कैसी सुखद लगती है। प्राचीन काल में हिन्दुस्तान में इसी प्रकार देखा गया था। एक ही परिवार में बाप हिन्दू हो तो बेटा बौद्ध हो और दूसरा बेटा जैन हो, इसमें कोई विरोध नहीं होता। तो फिर आज ऐसा क्यों न बन सके कि एक ही घर में एक भाई हिन्दू, दूसरा मुसलमान तो तीसरा ख्रिस्ती हो। ऐसा विचार-स्वातंत्र्य क्यों न हो? इस बारे में गम्भीर चित्त से सोचना चाहिए। एक ही घर में अच्छा हिन्दू, अच्छा मुसलमान और अच्छा ख्रिस्ती एकत्र रहते हों, इसमें क्या हर्ज है? एक ही घर में अनेक धर्म खुशी के साथ एकत्र रह सकते हैं। इसके लिए अब हमारी मानसिक तैयारी होनी चाहिए।

(८) सभी धर्मों का अध्ययनपूर्वक परिचय करें

इस्लाम के विषय में हमारे देश में काफी गलतफहमियाँ हैं। यहाँ मुसलमान बादशाहों ने जो जुल्म किये उसे हमने इस्लाम के साथ जोड़ दिया। किन्तु कुरान में तो कहा गया है कि सभी जमातें एक हैं। सभी

धर्मों का एक समुदाय है। कुछ लोग इसमें भेद करते हैं, किन्तु वे सभी भेद झूठे हैं। इस्लाम में बिल्कुल साफ-साफ कहा गया है कि जबदरस्ती करना अन्याय है। परमेश्वर को एक मानना, और सबसे प्रेम करना, यही इस्लाम ने कहा है। इस्लाम, यानी ईश्वर शरणागति और इस्लाम यानी शांति। इससे अलग तीसरा अर्थ इस्लाम का नहीं है।

भिन्न-भिन्न धर्म के अनुयायियों में ज्यादातर ऐसा ख्याल बना रहता है कि अपने धर्म के महापुरुष परिपूर्ण थे, करीब-करीब परमेश्वर-स्वरूप ही थे। मुसलमान मानते हैं कि मुहम्मद पैगम्बर पूर्ण पुरुष थे और इसमें किसी प्रकार की पूर्णता का विकास करना बाकी नहीं बचा था। इस प्रकार ईसाई मानते हैं कि ईशु परिपूर्ण मानव थे। ऐसी मान्यता हो, वह समझा जा सकता है। शिष्य के मन में गुरु के प्रति पूर्णभाव रहता है। छोटे बच्चे के मन में अपनी माता के प्रति ऐसी ही परिपूर्णता का आभास होता है। इस तरह का भाव सामान्य अनुयायियों के मन में रहे तो सामान्य माना जायेगा। परिपूर्णता का आरोपण तो हम पत्थर में भी करते हैं और उसे भगवान् की मूर्ति मानकर पूजते हैं। तो महान् मनुष्यों में, लोगों का परिपूर्णता का आरोपण करना स्वाभाविक है।

किन्तु इस बारे में इस्लाम जो बात करता है, वह मुझे बड़ी महत्त्वपूर्ण लगती है। इस्लाम ने कहा है कि मुहम्मद एक मनुष्य था, इन्हें ईश्वर के पद से जोड़ना नहीं चाहिए। ईश्वर तो एक ही है और अद्वितीय है। इसकी बराबरी कोई मनुष्य नहीं कर सकता। **ला इलाह इल्लिल्लाह, महम्मदुर रसूलिल्लाह**। अर्थात् अल्लाह एक ही है, उसकी जगह कोई नहीं ले सकता। मुहम्मद पैगम्बर भी उसका पैगाम लानेवाला रसूलमात्र है, सेवकमात्र है।

इससे भी आगे कुरान में एक सुन्दर आयत आती है—'हम किसी भी रसूल में भेद नहीं करते।' मतलब दुनिया में सिर्फ एक रसूल

मुहम्मद ही नहीं, दूसरे भी बहुत रसूल हो गये। ईशु भी एक रसूल है और मूसा भी, और दूसरे भी कई रसूल हो गये, जिनके नाम तक का हमें पता नहीं। हम रसूलों में भेद नहीं करते, यह इस्लाम का फेथ (श्रद्धा) है, विश्वास है। मुझे लगता है कि हिन्दुओं की भी ऐसी ही निष्ठा है। वे कहते हैं कि दुनिया के सत्पुरुषों ने जो रास्ता बताया है, वह एक ही है। इनमें जो भेद पैदा होता है, वह तो हमारी संकुचित वृत्ति के कारण ही पैदा होता है।

सभी धर्मों में कितना साम्य है, यह देखने लायक है। उदाहरणार्थ हिन्दू-धर्म और इस्लाम-धर्म देखें। इस्लाम कहता है, 'बिस्मिल्ला' और हिन्दू कहता है, 'ॐ'। बिस्मिल्ला पद में तीन शब्द है : बि, अस्मि और अल्ला। इसका अर्थ है—अल्ला के नाम से। 'ओम' यानी परमेश्वर का नाम। जितने भी शुभकार्य शुरू करने होते हैं, वह ईश्वर का संकल्प कर शुरू करते हैं। इसलिए सभी शुभ और धार्मिक कार्य, हिन्दू ॐ से आरम्भ करता है और मुसलमान बिस्मिल्ला से। ॐ और बिस्मिल्ला, दोनों निराकारवाचक शब्द हैं। ईश्वर के सिवा इस्लाम में अनेक मलक, फरिश्ते और हिन्दुओं में असंख्य देवी-देवताएँ हैं। किन्तु इनमें से कोई भी ईश्वर का स्थान नहीं ले सकता। ईश्वर और अल्लाह, दोनों एक हैं। ऐसे एक ही निराकार ईश्वर के लिए कहे गये ये शब्द हैं। ईश्वर को संस्कृत में ॐ कहते हैं और अरेबीक में अल्लाह। दोनों एक ही हैं।

इसी प्रकार थोड़ी, गीता और कुरान की तुलना करके देखें। गीता का सार एक वाक्य में है : **मामेकं शरणं व्रज**—एक परमेश्वर क़ी शरण में आओ। बिल्कुल ऐसा ही सार कुरान में कहा है। कुरान में इस्लाम रूप धर्म बताया है। इस्लाम यानी ईश्वर की शरण में जाना। 'इस्लाम' शब्द में सलम धातु है। इसका अर्थ है, शरण में जाना। इसी से सलाम शब्द बना है। सलाम यानी शांति। इस्लाम

शब्द भी इसी से बना है इस्लाम यानी परमेश्वर की शरण में जाना। परमेश्वर की शरण में जाओ तो शांति मिलेगी। गीता में एक श्लोक में कहा है : **तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत**—हे अर्जुन, तुम सर्व भाव से परमेश्वर की शरण लो ! इसका परिणाम क्या होगा ? **तत् प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्**—तो इनकी कृपा से तुम्हें शाश्वत शांति मिलेगी।

इस प्रकार शरणता और शांति, ये दोनों चीजें एक ही श्लोक में गीता में हैं और यही कुरान में 'इस्लाम' इस एक शब्द में है। जो ईश्वर की शरण में जायेगा, सत्कार्य करता रहेगा, सदाचार करता रहेगा। भक्ति के साथ सदाचार होना ही चाहिए, यह गीता का सुर है। कुरान में भी कहा है कि **अल् लजीन आमन् व अमीलुस खाली-हातो**—जो ईश्वर पर ईमान रखता है और नेक काम करता है, यही मुसलमान की व्याख्या है। ईश्वर पर भरोसा करिए, परोपकार में लगे रहिए, पूरा बोझ परमेश्वर पर छोड़ दीजिए, किसी की आसक्ति मत रखिए—यही गीता का और यही कुरान का उपदेश हैं।

अबुलकलाम आजाद ने कुरान पर एक सुन्दर पुस्तक उर्दू में लिखी है। उसकी प्रस्तावना में उन्होंने इस्लाम को बहुत अच्छी तरह समझाया है। इसलिए इस्लाम के बारे में गलतफहमी रखना और सभी मुसल-मान बुरे हैं ऐसा मन में मानना, यह बिल्कुल गलत है। परमेश्वर ने किसी एक जमात को खराब बनाया, ऐसा कहना ईश्वर पर बहुत बड़ा आरोप माना जायगा। अमरीकी मानें कि रूस के सभी लोग बदमाश हैं, और रूसी मानें की अमरीकी सभी बदमाश हैं। इस प्रकार हिन्दु-स्तान और पाकिस्तान के लोग भी एक-दूसरे के बारे में गलत ख्यालात रखें ! किन्तु यह बिल्कुल गलत विचार-पद्धति है।

बचपन में मुझे किसी ने कहा कि इस पेड़ पर भूत रहता है, तो मुझे डर लगा, किन्तु मेरी माँ ने कहा कि भूत-वूत कुछ नहीं है, जब

होगा तब तो दिखेगा न ? तुम वहाँ पास जाकर देख लो। मैंने पेड़ के पास जाकर देखा तो पता चला, भूत तो नहीं है, अच्छा सुन्दर वृक्ष है। सारांश, नजदीक पहुँचने से डर खतम हो गया। इसीलिए नजदीक जाकर परिचय कर लेना चाहिए। ऐसा करने से गलतफहमी नाबूद होती है।

सभी धर्मों की इस प्रकार नजदीक से पहचान करने की कोशिश मैंने की है। अलग-अलग धर्म-ग्रन्थों का सार निकालकर मैंने समाज के सामने रखा है। इसीसे लोग सभी धर्मों का परिचय कर सकेंगे। कुरान-सार मैंने पेश किया, मुस्लिम समाज ने उसे मान्य किया है। सर्वत्र उसका सत्कार हुआ है। 'ख्रिस्ती धर्मसार' रोम में पोप को भेजा गया था तो आशीर्वाद भी प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार सिक्खों के 'जपुजी' और बौद्धों के 'धम्मपद' का सम्पादन करके मैंने समाज के समक्ष रखा है।

आज सम्प्रदायवाद की समस्या फिर से सिर उठा रही है। इस समस्या का वास्तविक हल एक-दूसरे के सद्विचारों का आपस में परिचय बना रहे, यही है। यही असली उपाय है, और इसके लिए सतत प्रयत्नशील रहना है। लोगों का परस्पर के धर्मों का, सद्विचारों का करीब से परिचय कराते रहना है। तभी सम्प्रदायवाद को नाबूद कर सकेंगे।

(९) सब धर्मों का पवित्र संगम

हमारी भारत-भूमि का अहोभाग्य है कि दुनियाभर से आये हुए जातियों के और सभी धर्मों के लोग, यहाँ प्रेम से, साथ-साथ रहते आये हैं। अलग-अलग जमातें यहाँ आकर 'जियो और जीने दो' की भावना से इकट्ठी रही हैं। यहाँ अनेक विचारधाराओं का संगम हुआ है। यह हमारा बहुत बड़ा वैभव है।

यदि सभी धर्म एक-दूसरे के उत्तम तत्त्व को अपना लेंगे तो सभी धर्मों को परिपूर्णता प्राप्त होगी और सभी धर्मों का सुन्दर संगम होगा।

परिणाम तो ऐसा आना चाहिए कि भारत का हिन्दू-धर्म एक विशेष हिन्दू-धर्म बना रहे, भारत का इस्लाम-धर्म, एक विशेष इस्लाम-धर्म बना रहे, भारत का ख्रिस्ती-धर्म एक विशेष ख्रिस्ती-धर्म बना रहे। भारत-भूमि के समन्वय के एक विशेष रंग का स्पर्श सभी धर्मों को हो। इसी से एक विशेष ताकत प्रत्येक धर्म को मिलेगी, प्रत्येक की प्रभा बढ़ेगी।

इस्लाम-धर्म में एक प्रकार का बंधुत्व है, जो सभी को मान्य है। सेवा-मय काम करने की प्रवृत्ति ख्रिस्ती-धर्म की विशेषता है, जो सभी धर्मों को अपना लेने जैसी है। हिन्दू-धर्म को ये दोनों चीजें अपनानी चाहिए। इसी प्रकार इस्लाम-धर्म और ख्रिस्ती-धर्म को यहाँ की पृष्ठभूमि स्वीकार कर लेनी चाहिए। यहाँ के मुसलमान और यहाँ के ख्रिस्ती की परम्परा भारत के बाहर की है, फिर भी वे भारत को अपने धर्म का और अपने जीवन का हिस्सा समझें। भारत की ब्रह्मविद्या को ये दोनों अपना लें, इनके बंधुत्व और सेवावृत्ति की मूल बुनियाद तो ब्रह्मविद्या ही है। पड़ोसी से प्रेम करो, दुश्मन से प्रेम करो, मगर क्यों? इसका जवाब भारत की ब्रह्मविद्या देती है। उस ब्रह्मविद्या को यदि यहाँ के ईसाई और मुसलमान स्वीकार कर लें, तो इनके अपने विचार को भी मूल्यवान ताकत मिलेगी। दूसरी ओर, इस्लाम-धर्म के बंधुत्व की ओर ईसाई धर्म की सेवावृत्ति को अपनाने से हिन्दू-धर्म की ब्रह्मविद्या भी बलवती होगी, सभी धर्म ज्यादा-से-ज्याया पुष्ट होंगे और परिपूर्णता की ओर बढ़ते जायेंगे।

मेरा ऐसा भी मानना है कि समाज अब इस दिशा में आगे बढ़े कि मनुष्य अब पशु की हत्या न करें, पशु को अपना भोजन न मानें। भारत का यह एक विशेष सन्देश है, जो यहाँ की ब्रह्मविद्या से निकला है और वह सभी को अपनाने जैसा है। मनुष्य के लिए सबसे बढ़िया आहार फलाहार है, शाकाहार है। मानवता के विकास के लिए मनुष्य

की परिपूर्णता और सर्वधर्म एकरस हों, इसके लिए जरूरी है कि मनुष्य मांसाहार पूर्णतः छोड़ दे।

यह बात किसी पर लाद देने की नहीं, प्रत्येक को प्रेम से समझानी है। मैंने अलीगढ़ जाकर कहा था कि इस्लाम को कभी-न-कभी मांसाहार छोड़ना ही पड़ेगा। मैंने प्रेम से यह बात कही और उन्होंने भी शांति और प्रेम से मेरी बात सुनी।

मेरी यात्रा के दरमियान, एक स्थान पर गाय की कत्ल हुई थी। इस कारण वहाँ काफी तंगदिली खड़ी हुई थी। मैं वहाँ पहुँचा, शुक्रवार का दिन था। मस्जिद में पंद्रह-बीस गाँव के लोग इकट्ठे हुए थे। मैंने मस्जिद में ही सभा की और कहा कि यदि अल्लाह को गाय-बकरी के बलिदान से ही खुशी होती है तो वह पैगंबरों को क्यों भेजता, इसके लिए तो कसाई ही काफी था। कुरान में स्पष्ट कहा है कि अल्लाह प्रेम का भूखा है, बलिदान का नहीं। वैसे तो अल्लाह मांस ही नहीं, केले भी नहीं खाता। किन्तु हम ये चीजें उसे देते हैं, क्योंकि हम ये खाते हैं तो भगवान् को अर्पण कर खाते हैं। इसलिए लोगों को मांसाहार से छुड़ाना चाहिए। अल्लाह तो धर्म-निष्ठा और प्रेम चाहता है।

मैंने अजमेर की दरगाह में प्रवचन दिया था। वहाँ लोगों ने कितना प्यार बरसाया मुझपर! दस हजार मुसलमानों ने मेरा हाथ चुमा। मैंने उन्हें इस्लाम को, कभी-न-कभी परदा छोड़ना पड़ेगा, ऐसा कहा। स्त्रियाँ अल्लाह की मस्जिद में भी न आने पायें, इसका क्या मतलब? अल्लाह के पास तो स्त्री-पुरुष का भेद ही नहीं होना चाहिए। अत्यन्त प्रेम से यह बात मैंने उनके सामने रखी।

इस प्रकार प्रेमपूर्वक हरएक को समझाना है। पुरानी संकुचित कल्पनाएँ और रीति-रस्में धर्म के नाम पर पकड़े रखना, यह कोई धर्म-लक्षण नहीं है। धर्म का तो सातत्य से शोधन होना चाहिए। तभी धर्म विकासशील रहेगा। हिन्दू-धर्म में भी कई एक सनातन-धर्मी लोगों ने

अपनी संकुचित मान्यताओं से चिपके रहकर हिन्दू-धर्म को भारी नुकसान पहुँचाया है। ऐसा करके अपने ही पैरों पर उन्होंने कुठाराघात किया है। सच देखें तो मंदिर, हमारे ग्रंथ, जात-पाँत, जाति-धर्म इत्यादि में बिल्कुल कोई भी भेदभाव न रख कर सभी जिज्ञासुओं के लिए खुले होने चाहिए। सभी मन्दिरों की पवित्रता इसी में ही है कि जो कोई भक्तिभाव से उसमें प्रवेश करना चाहे, उसे बेरोकटोक उसमें प्रवेश मिले। तभी मन्दिरों का पतित-पावनत्व सार्थक होगा।

ऐसे धर्म का निरन्तर शोधन होता रहे, शुद्धि होती रहे। हमें देखना है कि हिन्दू उत्तम हिन्दू बनें, ख्रिस्ती उत्तम ख्रिस्ती बनें, ऐसा होगा तो हमारा काम बन जायेगा। किसी को धर्म बदलने की बिल्कुल जरूरत नहीं, बल्कि मुझे तो लगता है कि धर्मान्तर की प्रक्रिया बिल्कुल गलत है। धर्मान्तर की बात में मेरा कतई विश्वास नहीं। जगह-जगह ख्रिस्ती-धर्म का जिस प्रकार प्रचार होता है, इससे ईशु प्रसन्न हुए होंगे, ऐसा मैं नहीं मानता।

हमारा देश सेक्युलर कहलाता है, असाम्प्रदायिक कहलाता है। यहाँ सभी को विचार-प्रचार की पूर्ण आजादी है, फिर भी मेरा मानना है कि धर्मान्तर को कानून के जरिये बन्द ही करवाना चाहिए। ऐसा करने से असाम्प्रदायिकता को कोई बाधा न पहुँचेगी। संख्या बढ़ाने से किसी धर्म का विस्तार नहीं होता। धर्म तो एक निर्मल परिशुद्ध तत्त्व है। आदमी की इंसानियत का विस्तार ही सभी धर्मों का कर्त्तव्य है। और ऐसे धर्मों का सार एक ही है। ऐसे धर्मों के बीच कोई विरोध नहीं। जो कोई अपने धर्म का निष्ठा से आचरण करेगा उसे स्वाभाविक ही दूसरे धर्मों के प्रति आदर रहेगा। जिसे अन्य धर्मों के लिए अनादर होगा, वह अपने धर्म की आचार-विधि निष्ठापूर्वक नहीं कर रहा, ऐसा ही मानना होगा। वह न तो उत्तम हिन्दू है, न ही उत्तम मुसलमान, न ही उत्तम ख्रिस्ती, ऐसा ही मानना होगा।

फिर, इन दिनों एक ऐसी इच्छा आहिस्ता-आहिस्ता पनप रही है कि आज के इन सभी अलग-अलग धर्मों का समन्वय हो जाय, सभी धर्मों का एक मुक्त और व्यापक नये धर्म में परिवर्तन हो जाय, सभी मनुष्यों को इकट्ठा करनेवाला एक उत्तम धर्म खड़ा हो। ऐसी इच्छा आज अनेकों की है और वह अवश्य ही पूरी होगी। भले ही इसमें कुछ समय लगेगा, किन्तु, आखिर में यह होना ही है।

सभी धर्मों का समन्वय, अर्थात् सभी धर्मों का सार ग्रहण कर लेना, असार छोड़ देना। इसे मैं 'वेदान्त' कहता हूँ। सार ले लिया तो वेद खतम, वेदों का अन्त हो गया। इसी प्रकार 'कुरानांत'—सार ले लिया तो कुरान खतम। 'बाइबिलांत'—सार ले लिया और बाइबिल खतम। सार लेना, असार छोड़ देना। नहीं तो धर्म का सार तो याद नहीं रहता और गौण चीजें लेकर झगड़े बने रहते हैं। इसलिए धर्मों का सार लेकर, सर्व धर्म समन्वय मजबूत होना चाहिए, और वह आज या कल होकर ही रहेगा, ऐसा मैं निश्चित मानता हूँ।

(१०) धर्म-निरपेक्ष राज्य यानी धर्म-विहीन राज्य हर्गिज नहीं

मेरी पदयात्रा के दौरान मुझ से अनेक प्रश्न पूछे गये। इसमें कई एक प्रश्न तो एक-जैसे बार-बार पूछे गये। ऐसा एक प्रश्न था 'सेक्युलर स्टेट' का। सेक्युलर स्टेट माने क्या? ऐसे राज्य में क्या कोई धर्म ही न होगा?

यह प्रश्न बार-बार पूछा जाता, फिर भी मैं बार-बार विस्तार से प्रत्युत्तर देने का प्रयत्न करता, क्योंकि इस विषय में काफी गलतफहमी फैली हुई है। मेरा ऐसा मानना है कि बहुत सारी गलतफहमियाँ शब्द-मूलक होती हैं। उपयुक्त शब्द का इस्तेमाल न किया गया हो तो भी गलतफहमियाँ खड़ी होती हैं। और दूसरी इस बारे में तो एक विदेशी शब्द को लेकर ज्यादा गलतफहमी हुई है। हमारे यहाँ अमुक लोग सभी चिंतन अंग्रेजी में ही करते हैं। हमारी धरती से इसका सम्बन्ध

नहीं होता। फिर इसका भाषान्तर करना होता है। और किसी भी भाषा का भाषांतर दूसरी भाषा में बिलकुल ठीक-ठीक नहीं होगा। इसलिए विदेशी शब्द यथार्थ भाव वहन कर नहीं पाता। हमारी भूमि की संतानों को समझने के लिए, हमारी भूमि का ही शब्द चाहिए।

'सेक्युलर' का अर्थ धर्मविहीन तो हो ही नहीं सकता। उसे धर्मातीत भी नहीं कह सकते। धर्म के बाहर अथवा धर्म के साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसा भी नहीं कहा जायेगा। क्योंकि धर्म के जो अनेक लक्षण हैं, उसके बगैर न तो समाज का धारण-पोषण होगा, न ही व्यक्तिगत जीवन की उन्नति होगी।

इस 'सेक्युलर' शब्द के कारण बड़े-बड़े लोगों के मन में भी गलत भ्रम खड़ा होता है। जब किसी पाठशाला में वेद की प्रार्थना हो रही हो तो पूछते हैं कि सेक्युलर स्टेट में वैदिकमंत्र स्कूल की प्रार्थना में कैसे बोले जायँ ? मैं अलीगढ़ युनिवर्सिटी में गया था। वहाँ के विद्यार्थी और प्राध्यापकों ने बड़े प्रेम से मेरा स्वागत किया। वहाँ मैंने बड़ी गम्भीर बातें कही थीं। वहाँ सब धर्मों की शुद्धि की बात मैंने कही और इस्लाम-शुद्धि की थोड़ी-सी व्याख्या भी की। इन लोगों का रिवाज है कि शुरू में खड़े-खड़े कुरान की आयतें पढ़ना। जाकिर हुसेन साहब ने मुझे कहा, तो मैं बड़ी खुशी के साथ खड़ा हो गया। पूरा कार्यक्रम बड़े प्रेम से सम्पन्न हुआ। मुझे भी कुरान का अभ्यास है, इसलिए कुरान की आयतें सुनकर मुझे खुशी हुई। किन्तु इस पर से कोई कहे कि सेक्युलर स्टेट की युनिवर्सिटी में कुरान की आयतें क्यों पढ़ी जायँ, तो यह बिल्कुल गलत अभिक्रम कहलायेगा।

सेक्युलर स्टेट में आध्यात्मिक मूल्यों का कुछ इन्कार नहीं। हमारे राज्य का तो मुद्रालेख ही, 'सत्यमेव जयते' रखा है। तो सेक्युलर का क्या अर्थ करेंगे ? मैंने 'वेदान्ती' ऐसा अर्थ किया है। हमारा राज्य 'वैदिक' नहीं होगा, 'वेदान्ती' होगा। वेदान्त में कोई उपासना का

निषेध नहीं, आग्रह भी नहीं। वैसे तो वेद भी सभी उपासनाओं के प्रति समान भाव से देखता है। फिर भी वेदान्त में तो अपनी खुद की कोई उपासना ही नहीं रखी गयी, तो जब हम सेक्युलर स्टेट यानी वेदान्ती राज्य, ऐसा कहेंगे तो थोड़ा अर्थ समझ पायेंगे। यह राज्य-धर्म-निरपेक्ष राज्य होगा। किन्तु धर्म-निरपेक्ष का अर्थ धर्महीन नहीं। यह असाम्प्रदायिक है, किसी भी विशेष सम्प्रदाय से जुड़ा नहीं है। किन्तु इसलिए धर्महीन राज्य नहीं है।

'धर्म' एक व्यापक शब्द है। हमारे देश में प्राचीन काल से, वेद से लेकर आज तक, सातत्य से यह 'धर्म' शब्द चला आ रहा है। इसके लिए किसी भी भाषा में समुचित पर्यायवाची शब्द नहीं मिलता है। 'धर्म' शब्द इतना विशाल और व्यापक है कि इसकी सभी अर्थ-छायाएँ प्रकाशित करनेवाला शब्द मैंने आज तक दूसरी किसी भाषा में नहीं देखा। सभी अर्थ तो छोड़ दीजिए, किन्तु इसके मुख्य अर्थों का वहन कर सके, ऐसा भी शब्द मुझे नहीं मिला। इसलिए यह है तो संस्कृत शब्द, फिर भी मराठी, हिन्दी, गुजराती, सभी भाषाओं में 'धर्म' शब्द ही कहा जाता है।

धर्म में बहुत सारी बातें होती हैं। आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध, ऐहिक जीवन और इसकी समाप्ति के बाद का जीवन ये सब धर्म के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। धर्म का एक हिस्सा मृत्यु के बाद के जीवन का है, जहाँ आत्मा-परमात्मा वगैरह बातें हैं। यह हिस्सा राज्य से ताल्लुक नहीं रखता। इहलोक का व्यवहार, सत्य, प्रेम, त्याग आदि के सिद्धान्त यह धर्म का दूसरा हिस्सा है। इसका सम्बन्ध राज्य से है। राज्य सच पूछें तो इस सिद्धान्त पर भी आधारित होना चाहिए। इस अर्थ में हर-एक सरकार धार्मिक सरकार होनी चाहिए। धर्म-निरपेक्ष राज्य भी वास्तव में धर्म-सिद्धान्तों का अनादर तो नहीं कर सकेगा। इसलिए सेक्युलर स्टेट का अर्थ धर्म-विहीन राज्य, ऐसा कदापि नहीं होगा।

यह अ-साम्प्रदायिक राज्य है। यानी कि किसी एक सम्प्रदाय के साथ जुड़ा हुआ राज्य नहीं है। कोई एक राज्य-मान्य धर्म नहीं है। सभी धर्मों को यहाँ पूरी स्वतंत्रता है, इतना ही 'सेक्युलर' का अर्थ है। 'सेक्युलर' का अर्थ धर्म-विहीन हर्गिज नहीं।

(११) यथार्थ में, धर्म की स्थापना तो अब विज्ञान-युग में होगी

मनुष्य का मन सिर्फ व्यक्तिगत ही नहीं, सामूहिक भी है। जैसे व्यक्ति का अपना मन है, वैसा पूरे समाज का भी एक सामूहिक मन है। यह सामूहिक मन बदलता भी रहता है। किसी भी जमाने में, सामान्य समाज का मन बदलता भी रहता है। किसी भी जमाने में सामान्य समाज का मन एक प्रकार से काम करता था, ऐसा देखा जाता है। पहले, कुछ आज के जैसे सन्देश पहुँचाने के या वाहन-व्यवहार के तेज गतिवाले साधन नहीं थे। एक देश से दूसरे देश में समाचार पहुँचते भी सालों लग जाते थे। आज तो ऐसे-ऐसे साधन हमारे पास हैं कि कोई भी समाचार एक साथ दुनियाभर में सर्वत्र पहुँच जाता है। और व्यक्ति स्वयं भी कुछ ही घण्टों में दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच सकता है। सारी दुनिया की खबरें हमें हर रोज, एक स्थान पर बैठे-बैठे ही नित्य मिलती रहती हैं। पुराने जमाने में तो ऐसे कोई साधन नहीं थे। फिर भी देखा जाता है कि समस्त पृथ्वी पर मनुष्य जहाँ-जहाँ फैला हुआ था, वहाँ मनुष्य का मन करीब एक ही प्रकार से काम करता रहा है।

आज से दो-ढ़ाई हजार साल पहले का जमाना देखेंगे तो हमें पता चलेगा कि उस समय भारत में वैदिक, बौद्ध और जैन-धर्म की विचार-धारा चल रही थी। एक प्रेरणा ऐसी काम कर रही थी कि जिसका मूल स्रोत बुद्ध और महावीर बने। इन्होंने धर्म-संस्थापना की। लगभग इसी कालावधि में चीन में भी लाओत्से, कन्फ्युशियस वगैरह 'ताओ' के बारे में विचार कर रहे थे। जिसके कारण, वहाँ भी धर्म-

संस्थापना हुई। अर्थात् चीन के लोगों को भी उसी समय ऐसी ही धर्म-पिपासा जान पड़ी, जैसी कि यहाँ हिन्दुस्तान में जान पड़ी थी। किन्तु चीन और हिन्दुस्तान, तब एक-दूसरे के बारे में थोड़ा-सा, या तो बहुत कम जानते होंगे।

उसी काल में हमें ईरान और पेलेस्टीन में भी ऐसी ही प्रेरणा के दर्शन होते हैं। ईरान में जरथुष्ट्र, मिस्र में मूसा और पेलेस्टीन में ईशु को हम देखते हैं, जिन्होंने पारसी, यहूदी और ख्रिस्ती धर्मों की स्थापना की। यानी, उस जमाने में करीब दो सौ, तीन सौ, पाँच सौ साल की कालावधि के भीतर दुनिया के सभी देशों में धर्म-संस्थापन का कार्य हुआ, ऐसा हम देख सकते हैं।

आखिर चारों ओर, सर्वत्र सभी मनुष्यों को धर्म-संस्थापन की एक-जैसी प्रेरणा किस प्रकार हुई? इसका जवाब यह हो सकता है कि व्यक्ति के मन जैसा समाज का मन भी परमात्मा से प्रेरणा पाता है। जब मूसा धर्म-संस्थापन का कार्य करते रहे होंगे, तब उन्हें पता भी नहीं रहा होगा कि दूसरी दिशा में लाओत्से भी ऐसा ही काम कर रहे हैं। उस समय एक जगह की खबर दूसरी जगह पर पहुँचते सालों बीत जाते थे। फिर भी एक अव्यक्त हवा सर्वत्र फैल गयी थी। इसका कारण एक सर्व-अन्तर्यामी, सर्वप्रेरक परमेश्वर ही हो सकता है। हाँ, परमेश्वर पसन्द न हो तो हम ऐसा कह सकते हैं कि समस्त दुनिया की विवेक-शक्ति सभी को एक जैसी प्रेरणा देती है। परमेश्वर कहें या विवेकशक्ति कहें, मुख्य बात यह है कि अमुक काल-खण्ड के दायरे में पृथ्वी पर सर्वत्र धर्म-संस्थापना की प्रेरणा फैल गयी थी और इसीसे अलग-अलग धर्मों की स्थापना हुई।

किन्तु मेरा तो ऐसा कहना है कि यह तो मात्र नींव पड़ी है, मकान नहीं बना। ईश्वर पर श्रद्धा, अलग-अलग प्रकार से उसकी उपासना, यह धर्म की बुनियाद है, धर्म का मकान तो अब खड़ा करना है। इस

बुनियाद पर मकान खड़ा होगा, तब धर्म-संस्थापन कार्य पूरा हुआ, कहा जायेगा। हमें मानव-धर्म का मकान बनाना है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो मैंने तो कई बार ऐसा कहा है कि सच देखें तो अब तक धर्म की स्थापना ही नहीं हुई। आज हम जिसे धर्म कहते हैं वह यथार्थ में धर्म नहीं, पंथ है। तुकाराम ने कहा है, '**प्रथम पाऊली पावविला पंथ**' अर्थात् पहला कदम रखने के लिए ही सब पंथ निर्मित हुए हैं। हिन्दू-पंथ, मुसलमान-पंथ, खिृस्ती-पंथ, जैन-पंथ, बौद्ध-पंथ, पारसी-पंथ, सिक्ख-पंथ इत्यादि अनेक पंथ खड़े हुए हैं। छोटे बच्चे को चलना सिखाना होता है, एक-एक कदम आगे बढ़ना सिखाना होता है, उसी प्रकार धर्म का पहला कदम रखने के लिए, ये सब पंथ हैं। जब तक सूर्योदय नहीं होता तब तक थोड़ा प्रकाश रहे इसलिए छोटे-छोटे दीपक जलाते हैं, ऐसे ही ये सब पंथ हैं।

सारांश, यह धर्म के पहले-पहल कदम हैं और हमें इससे काफी आगे जाना है, यथार्थ में मानव-धर्म की स्थापना करनी है।

आज तक ये सभी पंथ श्रद्धा और मानसिक भूमिका पर आधारित रहे। अब हमें विज्ञान की भूमिका के आधार पर धर्म-संस्थापना करनी है, और यही यथार्थ-धर्म होगा। कइयों को शंका है कि विज्ञान बढ़ने से धर्म का क्या होगा? विज्ञान के सामने धर्म नहीं टिकेगा। विज्ञान के आविष्कार से धर्म लुप्त होगा। किन्तु मुझे भरोसा है कि विज्ञान जैसे-जैसे बढ़ता चलेगा, तब इसके सामने सिर्फ धर्म ही टिकेगा, अधर्म नहीं। विज्ञान के कारण दुनिया का स्पष्ट रूप ध्यान में आता जायेगा और मनुष्य की भावना व्यापक होती जायेगी। ऐसी व्यापक भावना ही तो धर्म है, संकुचित भावना अधर्म है। विज्ञान-युग में व्यापक भावना ही टिक पायेगी, संकुचित नहीं। अतः मेरा पक्का निश्चय है कि तेज गति से धर्म-विचार फैलेगा। विज्ञान की भूमिका पर यथार्थ-धर्म की स्थापना होगी।

विज्ञान के इस जमाने में अब अलग-अलग धर्म के जो असार तत्त्व हैं, अज्ञान के अंश हैं, वे विज्ञान के कारण निकल जायेंगे, जलकर भस्म होंगे, और हरएक धर्म का जो सारतत्त्व है, शुद्ध अंश है, वह अत्यन्त प्रकाशित होकर प्रगट होगा। सब कुछ बुद्धि की कसौटी पर कसा जायेगा। आज तक सभी धर्मों का मुख्य आधार, खासकर श्रद्धा रही है। तो अब श्रद्धा के साथ-साथ वैज्ञानिक आलंबन भी मिलना चाहिए।

बालक जब छोटा रहे, तब माता-पिता पर श्रद्धा रखकर चले, किन्तु जैसे-जैसे वह बड़ा होता जायेगा, वैसे-वैसे माता-पिता की बातों को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसता जायेगा, और उस कसौटी से जो ठीक नहीं उतरेगा उसे स्वीकार करने से इन्कार करेगा। इसी प्रकार अब श्रद्धा के आधार पर धर्म नहीं चलेगा, इसका साथ विज्ञान का आधार भी होगा। ऐसा करते-करते अधर्म पूर्णतया घटता जायेगा और यथार्थ-धर्म उत्तरोत्तर उज्ज्वलतर बनता जायेगा।

विज्ञान की कसौटी पर सही उतरनेवाला मानसिक कल्पना-कामना इत्यादि से ऊपर उठा हुआ दुनिया के सभी भेद-भावों को मिटा देने-वाला, उपासना वगैरह विविधताओं में भी एकरूपता देखनेवाला धर्म ही अब इस विज्ञान-युग में टिक सकेगा, और वही यथार्थ-धर्म होगा। तभी सही धर्म-संस्थापना हुई ऐसा माना जायेगा। आज तक जो कुछ हुआ है, वह तो धर्म की दिशा में प्राथमिक कदम के समान ही है। आत्मज्ञान का ठीक-ठीक विकास हुआ है। अब हमें विज्ञान और आत्म-ज्ञान के दोनों पंखों से उड़कर धर्म-संस्थापना करनी है। आज और अब पृथ्वी पर सर्वत्र ऐसी ही प्रेरणा काम कर रही है, ऐसा स्पष्ट दिखता है।

(१२) धर्म के मुख्य पाँच अंग

जिसे हम धर्म कहते हैं, इसमें कई एक चीजें देशकालानुसार बदलती रहेंगी और कई एक सर्वमान्य और सनातन रहेंगी। सामा-न्यतः धर्म के पाँच अंग हैं।

पहला अंग है श्रुति का, अनुभूति का, परमात्म-दर्शन का। कई एक महापुरुष ऐसे होते हैं जिनके दिल और दिमाग परमात्मा की दिशा में मुड़ते रहते हैं, और जिन्हें परमात्मा दर्शन की कुछ अनुभूति होती है। बेशक, परमात्मा कोई मामूली चीज नहीं कि मनुष्य की अनुभूति से उसका सही-सही स्वरूप जाना जाये और वही उसका सत्य स्वरूप है ऐसा पक्का कहा जाये। इसलिए, अमुक व्यक्ति को परमात्मा का दर्शन हुआ, इसका अर्थ इतना ही है कि उसे परमात्मा के अमुक अंश का दर्शन हुआ, यह आंशिक दर्शन ही रहेगा, समग्र नहीं। फिर भी ऐसी अनुभूति से व्यक्ति का जीवन क्षणार्ध में बिल्कुल बदल जाता है। आज तक दुनिया के महापुरुषों को ऐसी अनुभूति हुई है। जिन्हें ऐसी अनुभूति हुई हो, वह अपनी अनुभूति दुनिया के आगे रखें, यह उनका कर्तव्य है, इसलिए ऐसी अनुभूतियों का विवरण यह सभी धर्मों का अंग है।

यह अनुभूति अलग-अलग प्रकार की हो सकती है। प्रत्येक का अनुभव निजी होता है। मैं परमात्मा का एक रूप देखता हूँ, दूसरा, दूसरा तीसरा, तीसरा। और, इन सबका जोड़ करके जो भी चित्र हमारे सामने खड़ा होगा, वह भी परमात्म-दर्शन का तो अंश मात्र ही होगा। इन सभी का जोड़ करने के बाद भी ईश्वर के अन्य अंश तो शेष रहेंगे ही। फिर भी ऐसा प्रत्येक दर्शन हमें परमात्मा की कुछ झलक दिखाता है। तो प्रत्येक महापुरुष का निजी अनुभव धर्म का एक अंग बनता है। हिन्दू-इस्लाम, खिस्ती आदि धर्मों में परमात्मा की अनुभूति का जो ऐसा हिस्सा होता है, वह सभी धर्मों की संयुक्त मालकियत है। मानव-जाति की संयुक्त विरासत है।

धर्मकथाएँ, धर्म का दूसरा अंग हैं। कुरान में इसे कसस कहा है। कसस यानी कथा। ईब्राहीम की कथा, मूसा की कथा, नल-दमयंती की कथा, हरिश्चन्द्र की कथा, युसफ और जुहेवा की कथा। अलग अलग-धर्म-ग्रंथों में ऐसी कथाएँ हैं।

यह कथा का हिस्सा भी सभी की सम्पत्ति है। ये कथाएँ सभी धर्म-वाले पढ़ें और इनसे बोध ग्रहण करें। राम की कथा से हिन्दू भी बोध ग्रहण करेगा और मुसलमान भी। जिससे बोध मिलता हो, उसके हक-दार सभी धर्मवाले हैं। तो धर्म के इस बोध-कथा का हिस्सा भी सभी धर्मों की संयुक्त विरासत है। मानवजाति की संयुक्त विरासत है।

धर्म का तीसरा अंग है, नीति-विचार। धर्म का यह एक बहुत बड़ा और दुनियावी जीवन का महत्त्व का अंग है। हमेशा सच बोलना, प्रेम करना, दूसरों की मदद करना, एक-दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार बनना, मेहनत करके खाना, आलस नहीं करना, चोरी नहीं करना, दिल में करुणा रखना, ऐसी नीति की बातें सभी धर्मों में हैं। और प्रत्येक धर्म-ग्रंथ में देखी जाती हैं। ऐसी सभी बातें मैंने कुरानशरीफ में पढ़ी, गीता में पढ़ी, धम्मपद में पढ़ी, बाइबिल में पढी, हरएक धर्म-ग्रंथों में पढ़ी। ये सब ग्रंथ एक ही गवाही देते हैं। सभी की गवाही से बात मजबूत होती है, वैसे सत्य की बात सभी धर्मग्रंथों में पढ़ने से मेरा सत्य पक्का होगा। मानवता के ये बुनियादी गुण ऐसे हैं कि उनके विरोध का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। इस प्रकार के आचरण करने में भी मनुष्य का कल्याण है। तो धर्म का यह नीति-विचार का हिस्सा भी सभी धर्मों की संयुक्त विरासत है, मानवजाति की संयुक्त विरासत है।

धर्म का चौथा अंग है, उपासना की अलग-अलग पद्धतियाँ और विधियाँ। परमात्मा की प्रार्थना करने की अलग-अलग रीतियाँ, अलग-अलग धर्म में प्रचलित हुई हैं। कोई सामने मूर्ति रखकर प्रार्थना करेगा, कोई बिना मूर्ति करेगा, कोई पूर्व दिशा में मुँह करेगा, कोई पश्चिम दिशा में। कोई खड़ा रहकर प्रार्थना करेगा, कोई घुटने टेककर। देश काल की जरूरत के मुताबिक जिस समाज में प्रचलित रीति-रस्म से अलग-अलग उपासना-विधियाँ खड़ी हुई हैं। और उस-उस धर्म से जुड़ गयी हैं।

अब उपासना की विधि में ऐसा थोड़ा-बहुत फर्क रहे, इसमें कुछ गलत नहीं, इससे कुछ नुकसान नहीं। उदाहरणार्थ, प्रभात का समय है, सूर्योदय हो रहा है, तब पूर्व दिशाभिमुख होकर हिन्दू उपासना करेगा। शाम को वही हिन्दू सूर्यास्त के समय पश्चिम की ओर देखकर प्रार्थना करेगा। मुसलमान पवित्र काबा जिस दिशा में है उस पश्चिम दिशा में मुँह करके नमाज पढ़ेगा। उपासना-विधि में ऐसी विविधता रहे, इसमें कुछ गलत नहीं। अमुक ही रीति से उपासना करने का आग्रह रखना नहीं चाहिए।

फिर भी उपासना की ऐसी रीतियाँ भी ढूँढ़नी चाहिए कि जिसमें सभी शामिल हों। प्रार्थना-उपासना की बात आयी नहीं कि हम अलग-अलग क्यों हो जाते हैं? भगवान् का नाम आया, कि हम साथ छोड़ दें, यह तो बड़ी बदकिस्मती कहलायेगी। हम सभी कामों में इकट्ठे रहें और भगवान् का नाम लेने में ही अलग हो जायँ, यह तो जुल्म ही है। तो जहाँ सभी इकट्ठे मिल सकें, ऐसी संयुक्त उपासना भी ढूँढ़ निकालनी है। सभी धर्मों की अपनी-अपनी विशेष विधियाँ भले हों, किन्तु साथ-साथ सभी धर्मवाले साथ मिलकर उपासना कर सकें, ऐसी विधि भी होनी चाहिए। सर्व धर्म प्रार्थना, मौन प्रार्थना वगैरह इसलिए उपयोगी होगी।

आजकल की चालू विधियों में भी जो अधूरापन हो उसकी पूर्ति भी कर लेनी चाहिए। उदाहरणार्थ, हरिजनों को और विधर्मियों को मन्दिर-प्रवेश की बन्दी नहीं होनी चाहिए। ऐसे ही मुसलमानों की नमाज में बहनें भी सम्मिलित नहीं हो सकतीं, उसमें परिवर्तन करना है। भाई-बहनें सभी मिलजुल कर ईश्वर की उपासना करें, ऐसा होना चाहिए।

धर्म का पाँचवाँ अंग है, कानून। इसमें विरासत इत्यादि के कानून होते हैं। बाप की सम्पत्ति बेटे को कितनी मिले और बेटी को कितनी,

शादी किस रीति से होनी चाहिए, मृत्यु के बाद दफनाना या दहन करना वगैरह, इसमें समझना यह है कि ये सब कानून और रीति-रस्में उस-उस जमाने में, और उन-उन प्रदेशों में और उन-उन समाजों की परिस्थितियों के अनुरूप बने होते हैं। तो आज इनमें के कई एक पुराने कानून और रीति-रस्में, जैसी थीं वैसे नहीं भी चल सकती हैं। आज के युग के अनुरूप और आज के समाज की परिस्थिति के मुताबिक इसमें आवश्यक परिवर्तन करना चाहिए। नागरिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले कानून, हरएक धर्म में अलग-अलग हों, यह ठीक नहीं। असाम्प्रदायिक राज्य में समान कानून हो, यह वांछनीय है। विज्ञान की दृष्टि से भी रीति-रस्मों में परिवर्तन करने योग्य लगे वह करने की तत्परता रखनी चाहिए। आज की परिस्थिति के मुताबिक कानून नये सिरे से बनाने चाहिए और वे यथासम्भव सर्वसामान्य होने चाहिए।

इस प्रकार धर्म के मुख्य पाँच अंग हैं। पहले तीन अंग ऐसे हैं जो सभी धर्मों की मानव-जाति को सामूहिक देन है। मानव-जाति की ये संयुक्त अमूल्य विरासत है। धर्म में कोई भेद-भाव न मानकर हमें, सबको उसे अपना मानना है, और इसमें वृद्धि करते रहना है। सभी धर्मों के इस त्रिविध अंगों के समन्वय से एक मानवधर्म पनपेगा। चौथा उपासना का अंग, वैविध्य में एकता का द्योतक है। इसमें विवेकपूर्वक थोड़े-बहुत सुधार हो सकते हैं। पाँचवाँ कानून का अंग स्थल-काल-परिस्थिति के मुताबिक परिवर्तनशील है। विज्ञान की दृष्टि से और परिस्थिति के मुताबिक उसमें परिवर्तन करते रहना है।

(१३) धर्म को त्रिविध कैद से मुक्त करें

आज पूरी दुनिया में दो प्रकार की संस्थाएँ काफी मदोन्मत्त बन गयी हैं। एक है धर्म-संस्था और दूसरी शासन-संस्था। दोनों संस्थाएँ खड़ी की गयी थीं, लोकसेवा के ख्याल से। दोनों की जरूरत पड़ी और

खड़ी की गयीं। किन्तु आज ये दोनों संस्थाएँ समाज का सिरदर्द बन गयी हैं। इसलिए समाज को इन दिनों संस्थाओं के चंगुल से छुड़ाना अत्यन्त जरूरी बन गया है।

मेरे कहने का मतलब ऐसा नहीं कि समाज को धर्म से अलग करना है, बल्कि मैं तो ऐसा कहता हूँ कि धर्म तो चाहिए ही, किन्तु अब ये धर्म-संस्थाएँ नहीं चाहिए। मैं जैसे-जैसे विचार करता हूँ उतना ही मेरा यह विश्वास पक्का होता जाता है कि धर्म-संस्था चाहे किसी भी उद्देश्य से खड़ी की गयी हो आज यदि चालू रहें तो इससे समाज को लाभ के बजाय नुकसान ही ज्यादा होगा।

आज दुनिया की क्या हालत है? चार बड़े धर्म हैं: ख्रिस्ती-धर्म, इस्लाम-धर्म, हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म। इनके अलावा दूसरे छोटे-छोटे धर्म भी हैं। इन सभी धर्मवालों ने अपनी-अपनी धर्म-संस्थाएँ बनायी हैं। योरप में पोप काम करता है, और चर्च की बड़ी मजबूत रचना हुई है। जैसे हरएक जिले का जिलाधीश होता है, वैसे उधर हरएक जिले के लिए भी चर्च का अधिकारी होता है, इसी प्रकार की रचना इस्लाम में भी है। स्थान-स्थान पर इसकी मस्जिदें हैं, जहाँ मुल्ला रहता है। इनकी ओर से कुछ धर्म-प्रचार और उत्सव वगैरह भी चलते हैं। हिन्दुओं में भी मंदिर और मठ द्वारा यही काम होता है। यही हालत बौद्धों की भी है।

ये सभी धर्म अहिंसा, शांति, प्रेम आदि में विश्वास करनेवाले हैं। फिर भी हम देखते हैं कि दुनिया में शांति-स्थापना के काम में इन सभी धर्म-संस्थाओं का कहने लायक कोई प्रभाव नहीं हो रहा है। एक देश दूसरे देश पर हमला कर दे तो पोप को कोई पूछता नहीं कि ऐसा करना ठीक है या नहीं। ऐसा मानकर ही चलते हैं कि पोप का अधिकार अलग है, हमारा अलग। अपने व्यवहार में धर्म का कोई प्रभाव मान्य नहीं करता। इतना ही नहीं, बल्कि लड़ाई चलती हो और वह

दो ख्रिस्ती राष्ट्रों के बीच चलती हो, तो दोनों पक्ष अलग-अलग चर्च में विजय के लिए प्रार्थना करते हैं, ऐसा भी होता है। समाज के व्यवहार में इन धर्म-संस्थाओं का कोई खास प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। किन्तु इतना ही होता कि प्रभाव नहीं है तो भी गनीमत है, किन्तु आज तो उन संस्थाओं का समाज पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ रहा है। यही बड़ी चिन्ता का विषय है।

खासकर श्रद्धावानों पर इस धर्म-संस्थाओं का बुरा प्रभाव पड़ रहा है। इन्होंने ऐसा मान लिया है कि धर्म का जो कुछ भी कार्य है, उसकी जिम्मेदारी इन धर्म-संस्था के पुरोहितों की है। वे इसीलिए ही वहाँ नियुक्त किये गये हैं। धर्म के लिए हमें स्वतः कुछ करना-धरना नहीं। वह ऐसा मानते हैं कि एक सुन्दर मंदिर बनवा दिया, उसके लिए जमीन दे दी, पैसा दिया, पूजा-अर्चा की व्यवस्था कर दी तो हमारा धर्म-कार्य समाप्त हो गया। धर्म के लिए हमें भी कुछ करना होता है, यह विचार श्रद्धालुओं ने छोड़ दिया है। जो श्रद्धालु नहीं, वे तो न पुरोहित को पूछते हैं, न ही धर्म को। इनकी तो बात ही नहीं। किन्तु जो श्रद्धालु हैं, उन्होंने धर्म की, धर्म-प्रचार की, आचार की, और चिन्तन-मनन की जिम्मेदारी को गुरु, पुरोहित, मुल्ला और पादरी पर रख छोड़ी है, और स्वयं मुक्त हो गये हैं। फिर वह पुरोहित कहे कि भस्म लगाओ तो भस्म लगायेंगे और मानेंगे कि हमने बड़ा धर्म-कार्य कर दिया !

जो श्रद्धा नहीं रखते वे तो नहीं ही रखते, किन्तु जो श्रद्धा रखते हैं उनकी श्रद्धा भी आज इस प्रकार निर्वीर्य बन गयी है। एक व्यापारी है, उसने एक मुनीम रख लिया। वह मुनीम ही पूरा कारोबार चलाता है और व्यापारी मौज-मजा में मस्त है, तो उसकी जो हालत होगी, वही आज धर्म की हुई है। इसमें भी हमने सब कुछ पण्डा, पादरी और मुल्ला को सौंपकर हाथ धोकर बैठ गये हैं। हमें खुद कुछ करना-धरना

नहीं। ऐसे, जो श्रद्धाहीन हैं, इन्होंने तो धर्म को समाप्त किया ही है, किन्तु जो श्रद्धालु हैं, उन्होंने भी धर्म को समाप्त कर दिया है। कुल मिलाकर श्रद्धालुओं ने धर्म को भारी नुकसान पहुँचाया है।

धर्म को हमने धर्म-संस्थाओं में बन्द कर दिया है इसीका यह परिणाम है। आशा तो ऐसी थी कि मंदिर, मठ, मस्जिद, चर्च वगैरह से धर्म सर्वत्र फैलेगा। मेरा ऐसा कहना नहीं कि इनके द्वारा कुछ भी काम नहीं हुआ। थोड़ा-बहुत हुआ है, किन्तु बहुत ही कम। उलटा, इनके द्वारा अधर्म ही ज्यादा फैला है। तब, आज इन धर्म-संस्थाओं के चंगुल से मानव-जाति को मुक्त करने की तीव्र जरूरत है।

आज धर्म, जैसे धर्म-संस्थाओं में और इन संस्थाओं के गद्दीपतियों के हाथ में कैद है, वैसे हमने धर्म को मंदिर, मस्जिद, चर्च में कैद कर रखा है। बस, मंदिर-मस्जिद में गये, तो धर्म का आचरण कर लिया। बाजार में और रोज के व्यवहार में धर्म की जरूरत नहीं। वहाँ तो झूठ और अधर्म वगैरह जैसे चलता हो वैसे भले ही चलता रहे। धर्म वहाँ कहीं बीच में नहीं आता। और बाजार में धर्म नहीं ले गये। इतना ही नहीं, बल्कि धर्म को बाजार में ले आये हैं। व्यवहार में धर्म को न आने दिया तो व्यवहार की बदमाशी मंदिरों में घुस गयी। मंदिर का धर्म बाजार में न आने दिया तो बाजार का अधर्म मंदिरों में पहुँच गया। बाजार ही मंदिरों में घुस गया। होना तो यह चाहिए था कि धर्म को बाजार में जाना था, किन्तु धर्म जा न पाया तो मंदिरों में से भी धर्म अदृश्य हो गया। बाजार में खुला अधर्म है, तो मंदिरों में ढँका-छुपा अधर्म है। आज ऐसी हालत हुई है।

ऐसे आज धर्म को, धर्म-संस्थाओं से, पादरी-पुरोहित, मुल्लाओं के हाथों से, मंदिर, मस्जिद, चर्च की चारदीवारों की कैद से अब पूर्णतः मुक्त करना है और यथार्थ धर्म-भावना समाज में सर्वत्र फैलानी है।

(१४) धर्म-सम्प्रदायों के दिन अब लद गये

मैं ऐसा मानता हूँ कि अब राजनीति और सम्प्रदाय के दिन खतम हुए, उन्हें अब जाना होगा और इसके स्थान पर विज्ञान और अध्यात्म आयेंगे। विज्ञान अब पेरीकियल पोलिटिक्स (संकीर्ण राजनीति), पार्टी पोलिटिक्स (पक्षीय राजनीति) और नेशनल पोलिटिक्स (राष्ट्रीय राजनीति) को नहीं सहेगा। इन सब बातों को अब जाना ही होगा। इस प्रकार की राजनीति अब आउटडेटेड—कालबाह्य हो गयी है। अब इन्हें जाना ही है।

जब मैं इस प्रकार सोचने लगा, तब एक दूसरी बात भी मेरे ध्यान में आयी कि राजनीति के साथ-साथ धर्म-सम्प्रदायों को भी जाना पड़ेगा। यह सही है कि एक जमाने में सम्प्रदायों ने अच्छा काम किया। अस्त-व्यस्त लोगों को इन धर्म-सम्प्रदायों ने इकट्ठा किया। किन्तु एक जमाने में जो जरूरी सिद्ध हुआ था वही आज विघ्नरूप बन बैठा है। आज जब विज्ञान समस्त दुनिया को करीब ला रहा है, तब धर्म-सम्प्रदाय उसे तोड़ रहे हैं। जैसे घेरे के बारे में होता है, ऐसा ही आज इन सम्प्रदायों के विषय में हो रहा है। जब तक पौधा छोटा हो, तब तक घेरा उसका रक्षण करती है। किन्तु जैसे-जैसे पौधा बढ़ने लगता है, वैसे-वैसे वही घेरा रुकावट बन जाता है। और तब उस घेरे को तोड़ना ही पड़ता है। नहीं तो घेरा पौधे को खा जायगा। यही हाल आज सम्प्रदायों का है। इसलिए सम्प्रदायों को अब विदा होना है। आज तो सम्प्रदाय मनुष्य-मनुष्य के बीच खाई खड़ी करता है और एक सम्प्रदाय का दूसरे सम्प्रदाय से झगड़ा खड़ा करता है। इसलिए उन्हें जाना ही है।

ऐसी दो बातें मेरे ध्यान में आयीं कि राजनीति और धर्म-सम्प्रदायों के दिन अब लद चुके हैं। पहली बात जल्दी ध्यान में आयी, किन्तु धर्म

के प्रति मेरे मन में जरा आसक्ति होने से, धर्म-सम्प्रदायों को भी जाना होगा, यह बात एकदम ध्यान में नहीं आयी। इसमें थोड़ा समय लगा। इसका आरम्भ थोड़ी विचित्र रीति से कश्मीर में हुआ। ऐसे तो पहले एक-दो बार पंजाब में भी मैंने यह बात की थी किन्तु मुख्य रूप से यह कश्मीर में मेरे ध्यान में आयी।

कश्मीर में मुसलमानों के बीच घूमना-फिरना हुआ। मैंने उनको कहा कि देखो भाई, वेद-कुरान वगैरह जैसे हैं वैसे किसी ग्रंथ को मैं सिर पर उठाने को तैयार नहीं। इसमें जो कुछ सार होगा उतना ही ग्रहण करूँगा। बाकी सभी ग्रंथ मेरे लिए बोझ बन जायेंगे।

वहाँ के मुसलमानों को यह बात पसन्द आयी। मुझ पर ऐसा असर पड़ा कि कश्मीर के मुसलमान ठण्डे दिमाग के हैं, सौम्य स्वभाव के हैं। वहाँ सर्वत्र सूफी धर्म का प्रचार है। धर्म-ग्रंथों का सिर्फ सार ग्रहण कर लेना है। ऐसी मेरी बातों का उन्होंने कोई विरोध नहीं किया।

वहाँ कश्मीर में मैं, इसके साथ-साथ दूसरी बात भी करने लगा। मैंने विशेष रूप से ऐसा कहना शुरू कर दिया कि अब धर्म-पंथों और सम्प्रदायों को जाना है। मैं तब 'रिलिजन' और 'मजहब' शब्द का इस्तेमाल करता था। 'धर्म' या 'दीन' शब्द का उपयोग नहीं करता था। 'दीन' तो ईश्वर-निष्ठा है, और 'धर्म' है धारण करनेवाला। इसीलिए मैं कहता था कि मैं दीन का या धर्म का निषेध नहीं करता, मैं तो पंथ, मजहब और रिलिजन का निषेध करता हूँ। पंथ, मजहब वगैरह को अब जाना है।

तो कश्मीर में ऐसी कई एक बातें मेरे ख्याल में आयीं। इसीमें से लोकनीति का विचार निकला। जब यह ध्यान में आया कि राजनीति और सम्प्रदाय दोनों को जाना है तो लोकनीति का विचार स्पष्ट हुआ।

तो, मेरा मानना है कि विज्ञान युग में मजहब को और सम्प्रदायों के स्थान नहीं है। व्यक्ति को सम्प्रदायों से ऊपर उठना है, और एक

मानव-धर्म का विकास करना है। धर्म पचासों नहीं हो सकते। मनुष्य के लिए एक धर्म हो सकता है, और वह है मानव-धर्म ! मानव-धर्म से ही अब व्यक्ति और समाज आगे प्रगति करेंगे। मनुष्य अब अलग-अलग धर्म-सम्प्रदायों में बँधे रहने के बजाय सभी धर्मों का सार ग्रहण कर लेगा और इसमें से मानव-धर्म पनपेगा। अध्यात्म यानी सभी धर्मों का सार। अब सम्प्रदाय नहीं, अध्यात्म चलेगा।

(१५) सभी धर्मों के सार से अध्यात्म पनपेगा

इस सृष्टि में अपार विविधता है। किसी एक आदमी का चेहरा दूसरे आदमी से मिलता-जुलता नहीं होता है। हरएक का चेहरा अलग है। एक पेड़ पर जो पत्ते होते हैं, उनमें हरएक पत्ते की अपनी-अपनी विशेषता होती है। इस प्रकार समस्त सृष्टि में अपार विविधता है।

किन्तु यह विविधता, विभिन्नता बाहर की है। अन्दर तो हम अनोखी एकता का ही अनुभव करते हैं। भूख-प्यास सभी में एक-सी देखने में आती है। प्रेम का भी सभी अनुभव करते हैं। कई भावनाएँ समान रूप से, सभी में देखने को मिलती हैं। इसलिए शास्त्रकारों ने समझाया है कि अपने निजी अनुभव से आदमी को दूसरों का ख्याल करना चाहिए। सभी धर्मों में कहा है कि आत्मौपम्य भाव से सब के साथ बर्ताव करें।

धर्म के बारे में भी यह बात ठीक-ठीक बैठती है। धर्म की इतनी सारी विविधता में एकता देखनी है। सभी धर्मों के प्रति अपनत्व का भाव महसूस करना है। इसका मुझे अनुभव है। जब मैंने 'कुरान शरीफ' हाथ में लिया तो देखा कि जैसे भक्तिभावपूर्वक मैं वेद पढ़ता हूँ, इतने ही भक्तिभाव से कुरान भी ! कुरान के कई हिस्से पढ़ते समय, मैं एकदम गद्गद हो जाता, मेरी आँखें भर जाती थीं। जब तक मुझे विश्वास न हुआ कि मैं इससे एकरूप हुआ हूँ, इसमें रँग गया हूँ, तब तक मैंने नोंध-टिप्पणी आदि जरूर कर रखे थे परन्तु कुरान के उद्धरण

निकालने आदि का काम नहीं किया था। जब ऐसी प्रतीति मुझे अपने बारे में हुई, तभी मैंने कुरान-दोहन का काम उठाया।

कुरान सार जब प्रकाशित हुआ, तब पाकिस्तान में 'डान' अखबारवालों ने इस पर आक्षेप किया कि, 'कुरान' और 'सार'? और वह भी एक काफिर करे? किन्तु जब पुस्तक देखी, तब हिन्दुस्तान के मुसलमानों ने स्वीकार किया कि वाजिब हुआ है। आगे रावलपिंडी के एक अच्छे अखबार में भी बड़ी सुन्दर समीक्षा दी गयी थी। मतलब, वह सार स्वीकृत हो गया। यह एक बहुत बड़ी घटना हुई कि कुरान का भी सार निकाला जा सकता है। यह सम्भव है, असम्भव नहीं, अर्थात् धर्म-विरुद्ध नहीं।

विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के दिन अब लद चुके। अब एक मानव-धर्म पनपना चाहिए, सभी धर्मों का समन्वय होना चाहिए। इस बात के सन्दर्भ में इस घटना को देखना है। सभी धर्मों को एकत्रित करने की दृष्टि से गांधीजी ने सर्व-धर्म प्रार्थना चलायी थी। सभी धर्मों से थोड़ा-थोड़ा लेकर प्रार्थना करते थे। मैंने मौन प्रार्थना चलायी। मौन में हरएक अपनी-अपनी रीति से अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण कर सकते हैं। पूर्व पाकिस्तान की यात्रा के दौरान भी प्रवचन के बाद में सभी जगह मौन प्रार्थना करवाता। किन्तु यह तो सिर्फ प्रार्थना की बात हुई। सभी धर्म-ग्रंथों का क्या करना, यह प्रश्न खड़ा होता है। सभी धर्म-ग्रंथों का सार निकालकर समाज के सामने रखने से समन्वय में मदद होगी, या तो धर्म-ग्रंथ के बारे में बिल्कुल मौन रखने से मदद मिलेगी? सर्व धर्म समन्वय की दृष्टि से क्या उपयुक्त होगा?

इस बारे में बहुत चिन्तन चला। मुझे लगा कि 'यह सब छोड़ दें।' ऐसा करके अलग हो जाऊँगा, किन्तु यह व्यक्तिगत मुक्ति है। जब मैं व्यक्तिगत मुक्ति नहीं, सामाजिक मुक्ति की आवश्यकता मानता हूँ, तो

इन सब धर्मग्रंथों का सार निकालकर समन्वय होना चाहिए। क्योंकि करोड़ों लोगों की बुद्धि पर जिसका सत्प्रभाव पड़ता है, (बुरा प्रभाव भी होता है, किन्तु अच्छा भी होता है) उसे छोड़ देने के लिए समाज से कहना ठीक नहीं है। विनाश आसान है, निर्माण कठिन। यह संचित पुण्य है, उसे व्यर्थ नहीं गँवा देना है। इसीलिए मैंने सोचा कि धर्म-ग्रंथों का सार ग्रहण कर इसका समन्वय करना चाहिए।

शंकराचार्य ने अपने युग में यही किया। उन्होंने उपनिषद् इत्यादि का समन्वय किया। उन दिनों इस बारे में झगड़े चलते थे। हाँ, उप-निषद् भी आपस में झगड़ते थे! बृहदारण्यक विरुद्ध छांदोग्य, गीता विरुद्ध छांदोग्य इत्यादि उस समय में चलता था। इन सभी के बीच मेल बैठाने के लिए शंकराचार्य ने समन्वय किया। इस प्रकार आज भी समन्वय की आवश्यकता है, ऐसा निर्णय मैंने किया। सब सम्प्रदायों की उपाधि से इसी प्रकार से मुक्त होंगे और सभी धर्मों के ऐसे सार से ही अध्यात्म पनपेगा।

(१६) अध्यात्म का कृषि-कार्य

अध्यात्म यानी क्या? अध्यात्म उसे कहते हैं, जिसके द्वारा ब्रह्माण्ड को अपने में पहचाना जा सके। ब्रह्माण्ड के स्वरूप का और उसके कर्ता की थाह मिलना सम्भव नहीं। वह अत्यन्त व्यापक और सूक्ष्म है। फिर भी इसकी पहचान का प्रयत्न कर सकते हैं। प्रयत्न बाहर से भी कर सकते हैं और अन्तर्निरीक्षण से भी कर सकते हैं। 'फिजिक्स' (भौतिकशास्त्र) विश्व का बाह्य रूप समझने में मदद करता है। मेटाफिजिक्स (अध्यात्म शास्त्र) विश्व का आन्तरिक रूप थोड़ा-सा बताता है।

इन दोनों प्रकार की खोज पहले से चली आ रही है—बाह्य सृष्टि की खोज और आन्तरिक सृष्टि की खोज। कइयों का झुकाव बाह्य सृष्टि की खोज की ओर रहता है और कइयों का आन्तरिक खोज की

ओर। दुनिया में सर्वत्र दोनों प्रकार की रुचि के व्यक्ति मिलेंगे। सामान्यत: एक ऐसी मान्यता है कि एशिया मायनर से लेकर ब्रह्मदेश (नाम भी शानदार है - ब्रह्मदेश !) क्षेत्र में आन्तरिक खोज पर विशेष ध्यान दिया गया, और दूसरे क्षेत्रों में सृष्टि की ओर। ऐसी मान्यता बनी हुई है, किन्तु यह सच नहीं। प्राचीन माने गये देशों में भी ऐसे तो कम ही व्यक्ति थे, जिन्होंने आन्तरिक खोज की। वास्तव में तो यहाँ भी वैज्ञानिक खोज ही ज्यादातर हुई है। कृषि की खोज, अग्नि की खोज, पशुपालन की खोज, पत्थर-धातु वगैरह के औजार बनाने की खोज, गणितशास्त्र, अंकगणित, खगोलशास्त्र, वगैरह खोजें—ये सभी वैज्ञानिक खोजें ही हैं। फिर आज जो ऐसी मान्यता फैली कि वैज्ञानिक मनोवृत्ति पश्चिम में है, इसका कारण यह है कि आधुनिक युग में जो खोजें हुईं वे अधिकतर सृष्टि के विषय में हुईं और वह पश्चिम में ज्यादा हुईं, पूर्व में ज्यादा नहीं हुईं।

लेकिन यह भी समझ लेना चाहिए कि इन दोनों प्रकार के शास्त्रों से पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। ब्रह्माण्ड के स्वरूप की और इसके कर्ता की पूरी थाह मिलना सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ, वैज्ञानिक खोज के आधार से मनुष्य चन्द्रमा पर पहुँचा। किन्तु यह बिल्कुल मामूली बात मानी जायेगी। आकाश में इतने नक्षत्र, तारे, ग्रह हैं कि इन सभी पर पहुँचना सम्भव ही नहीं। कई तो इतने दूर हैं कि उनकी प्रकाश-किरणें यहाँ पृथ्वी तक पहुँचने में सालों लग जाते हैं। इसका अर्थ यह कि विज्ञान द्वारा हुई खोजों से, अर्थात् बाह्य विश्व में हुई खोजों द्वारा ब्रह्माण्ड और उसके कर्ता के बारे में बहुत ज्यादा ज्ञान नहीं प्राप्त होगा।

अब वास्तविकता यह है कि जो कुछ सृष्टि में है, ब्रह्माण्ड में है, वही सब पिण्ड में भी है। और जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। किन्तु जो ब्रह्माण्ड में है, वह तो बहुत दूर है। इतना दूर कि उसकी थाह पाना लगभग असम्भव है, और इसका कर्ता कौन, यह समझना

तो इससे भी दुर्लभ है। इसीलिए उसे समझने का सरल मार्ग है, उसे पिण्ड में पहचानना। यही अध्यात्म है।

पिण्ड में देखना यानी भीतर देखना, और सृष्टि में देखना यानी बाहर देखना। सृष्टि में देखने-सुनने की काफी सुविधा है। कान हैं, आँखें हैं और मदद के लिए बहुत सारे वैज्ञानिक उपकरण भी उपलब्ध हैं। ऐसी सुविधा पिण्ड में देखने के लिए नहीं। एक्स-रे द्वारा अन्दर देखने का विज्ञानियों ने थोड़ा प्रयत्न किया, किन्तु इससे तो सिर्फ देह के भीतर अंग-उपांग ही दिखायी देते हैं, भीतर की थाह नहीं मिलती। पूरे पिण्ड की जानकारी विज्ञान को नहीं है। तो अध्यात्म द्वारा पिण्ड को पहचानने का प्रयत्न करना रहा।

हम यदि पिण्ड को समझ लें तो बहुत सारा काम हो जाय। अध्यात्म विद्या इसलिए निरंतर प्रयत्नशील रही है। इसमें मुख्य चार मार्ग हैं :

(१) **ज्ञानमार्ग :** इसमें जानकारी प्राप्त करनी होती है। निरीक्षण वगैरह भी इसमें समाविष्ट है। जैसे कि स्वप्न किस विचार से या घटना से सम्बन्धित था, यह सोचना वगैरह। (२) **कर्ममार्ग :** इसमें पिण्ड का सदुपयोग करने की बात है। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, चित्त, बुद्धि वगैरह से उत्तम काम लेना और इन्हें शुद्ध करते जाना। (३) **योगमार्ग :** अनेक प्रकार से अपने पर नियंत्रण करना। इससे, साक्षी-रूप रहकर पिण्ड को पहचानना शक्य होता है। (४) **भक्तिमार्ग :** इसका तथ्य है, बाहर से मदद लेना। सत्संग, प्रार्थना, सद्ग्रंथ वगैरह की मदद लेकर नम्रभाव से शक्ति प्राप्त करना।

अध्यात्म समझने के लिए इन चारों मार्गों से गुजरना पड़ेगा। और इन चारों मार्गों की खेती हमारे यहाँ काफी हद तक हुई है। किन्तु बीच के ४००-५०० सालों का एक ऐसा कालखण्ड गया कि हमारे यहाँ विज्ञान और अध्यात्म क्षेत्र में, खासकर कुछ नया नहीं हुआ। किन्तु

अब आधुनिक युग में हमारे यहाँ अध्यात्म के क्षेत्र में चार उल्लेखनीय खोजें हुई हैं। इस पर काफी ध्यान दिया जाना चाहिए।

(१) **सर्वोपासना-समन्वय** : सभी धर्मों के समन्वय की और सभी उपासनाओं के समन्वय की एक नयी दृष्टि भारत में प्रगट हुई। इसका रामकृष्ण परमहंस द्वारा उद्‌गम हुआ माना जायेगा।

(२) **अधिचित्त परारोहण** : यानी चित्त के ऊपरी स्तरों में जाकर परमात्मा की अनुभूति पाकर, फिर से नीचे उतर कर उस अनुभूति में समस्त विश्व को लपेटना और विश्व को ऊपर के स्तर पर चढ़ाना, ऐसा एक दर्शन यहाँ मिला। इसका उद्‌गम तो नहीं, परन्तु विशेष प्रकाशन अरविंद द्वारा हुआ, ऐसा माना जायेगा।

(३) **सत्याग्रह-दर्शन** : आज तक आध्यात्मिक तत्त्व, ऊपर के स्तर में थे, और ध्रुव-तारे जैसे, ध्येय-रूप थे और आज भी हैं। किन्तु उसका रोजबरोज के व्यवहार से भी सम्बन्ध है, इसका अनुसरण किया जा सकता है, जीवन के प्रत्यक्ष क्षेत्र में वह जोड़ा जा सकता है—यह जो सत्याग्रह-दर्शन कहलाता है, इसका उद्‌गम तो नहीं किन्तु प्रकाशन गांधीजी द्वारा हुआ। इस सन्दर्भ में गांधीजी का एकादशव्रत का चिन्तन 'मंगल प्रभात' इस युग का नया अध्यात्म है। वह एक आध्यात्मिक पुस्तक है।

(४) **करुणामूलक साम्य** : जो चौथी चीज निकल रही है, वह है साम्ययोग। यह आज के जमाने की माँग है। साम्ययोग की प्रेरणा आज दुनिया में चारों ओर दिखायी देती है। ब्रह्म यानी परम साम्य, समत्व, ऐसी व्याख्या ब्रह्म की गीता ने की है। इससे बढ़िया व्याख्या ब्रह्म की दूसरी कोई नहीं हो सकेगी। विज्ञान के कारण आज इस साम्य को हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं, मूर्तिमंत कर सकते हैं, सगुण-साकार कर सकते हैं। करुणामूलक साम्य का यह नया दर्शन, सामने उपस्थित हुआ है।

मैं मानता हूँ कि अध्यात्म-क्षेत्र में भारत की आधुनिक युग की ये चार विशेष देनें हैं। ज्ञान, योग, कर्म और भक्ति, ऐसे अध्यात्म के चार मार्गों के कृषि-कार्य के गहरे परिपाकरूप ये चार देनें उत्पन्न हुई हैं।

(१७) सर्व सामान्य आध्यात्मिक निष्ठाएँ

मुझे लगता है कि सभी धर्मग्रंथों का सार ग्रहण कर के उसका समन्वय करना चाहिए। ऐसा समन्वय, मैंने अपने लिए, पर्याप्त मात्रा में कर रखा है। सभी धर्मों में कई समान आध्यात्मिक निष्ठाएँ मुझे दीखती हैं। उनकी भूमिका पर ऐसा समन्वय हो सकेगा।

अध्यात्म यह मूलभूत श्रद्धा का विषय है। सभी धर्मों में नीचे की श्रद्धाएँ देखने को मिलती हैं :

(१) जीवन की एकता और पवित्रता : एक श्रद्धा ऐसी है कि जीवमात्र में एक ही तत्त्व झलक रहा है, और समग्र जीवन एक है, पवित्र है। किन्तु जीव मात्र की ऐसी एकता और पवित्रता, इसके पूरे-पूरे अर्थ में सधना कठिन है, करीब-करीब असम्भव है। क्योंकि जीने के लिए हम जंतुओं का संहार करते हैं, असंख्य जीव-जंतुओं का हमारे हाथों विनाश होता है। प्रत्यक्ष आचरण में भी ऊँच-नीच का और स्थूल-सूक्ष्म का काफी भेद कायम रहता है। यह सच होने पर भी ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए कि जीवमात्र एक है और पवित्र है और जहाँ तक सम्भव हो उतनी ज्यादा मात्रा में साधने की हमारी कोशिश रहे।

(२) मृत्यु के बाद भी जीवन की अखण्डता : दूसरी श्रद्धा यह है कि मृत्यु के बाद भी जीवन है, मृत्यु से जीवन खंडित नहीं होता। मृत्यु के बाद वह कौन-से स्वरूप में रहेगा यह सूझ-बूझ का विषय है, और बुद्धि से इसका निर्णय नहीं हो सकता। इस सूझ-बूझ के बारे में विचार-भेद हो सकते हैं। किन्तु जीवन मृत्यु द्वारा खंडित नहीं होता, वह इसके बाद भी कायम रहता है—चाहे सूक्ष्म रूप में रहे, चाहे स्थूल रूप में, निराकार रूप में रहे या साकार रूप में, देहधारी या देहविहीन रूप में

रहे। इसके ये छह भिन्न-भिन्न स्वरूप हो सकते हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि जीवन अखण्ड है। स्पष्ट है कि यह बात भी श्रद्धा की है। बुद्धि एक हद तक ही इसमें काम करेगी, फिर उसकी मर्यादा आ जायेगी। जहाँ बुद्धि की मर्यादा आ जायेगी, वहाँ श्रद्धा काम करेगी। इस प्रकार जिस व्यक्ति में श्रद्धा नहीं है वह आगे का ग्रहण नहीं कर पायेगा। वह तो जहाँ तक बुद्धि की क्षमता होगी वहीं तक ग्रहण करेगा।

(३) निरपेक्ष नैतिक मूल्यों में श्रद्धा : तीसरी श्रद्धा यह है कि समग्र जीवन के लिए निरपेक्ष नैतिक मूल्यों की जरूरत है। इस प्रकार के शाश्वत नीतिमूल्यों को मानने में सभी प्रकार से हानि ही है। इसे श्रद्धा इसलिए कहनी पड़ी कि आज के युग में और भी काल में मानव-मन को निरपेक्ष-नीति कभी गले नहीं उतरी। हिंसा कई जगह, अनिवार्य मानी गयी, यह तो एक उदाहरण है। ऐसे ही जो दूसरे नैतिक मूल्य शाश्वत माने गये हैं, उनमें अपवाद खड़ा करने की जरूरत मनुष्य को महसूस हुई। बुद्धि से यह सिद्ध करना सम्भव नहीं रहा कि आप सत्य से चिपके रहें और आपका गला घोंटा जा रहा है, फिर भी आप ही विजयी हैं। इसीलिए इसमें श्रद्धा रखने की बात कही है।

(४) विश्व में एक व्यवस्था है : चौथी श्रद्धा यह कि विश्व में व्यवस्था है, अर्थात् रचना है, बुद्धि है। इतना कहने से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होगा। किन्तु इसे 'ईश्वर' नाम देने का आग्रह ईश्वर का अपना नहीं, तो मेरा भी नहीं। इसका अर्थ है—परमेश्वर पर श्रद्धा। किन्तु इतना मानना काफी होगा कि विश्व में एक रचना है, व्यवस्था है, और बुद्धि है।

(५) कर्म-विपाक : पाँचवीं श्रद्धा यह कि कर्म-विपाक अपरिहार्य है। मृत्यु के बाद भी कर्म नहीं टलते। हरएक कर्म का फल अवश्य मिलेगा, यहाँ नहीं तो वहाँ, दूसरे जन्म में मिलेगा, यह कर्म-सिद्धान्त

अटल है। किन्तु इतना भी समझ लेना है कि कई एक कर्म, एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, तो कई एक व्यक्तिगत हैं। इसलिए मेरे कर्म का फल मुझे ही मिलेगा, आपको नहीं, और आपके कर्म का फल आपको मिलेगा, मुझे नहीं, ऐसा नहीं है। कई एक कर्म सामूहिक होते हैं, ऐसे कर्मों का भोग भी सामूहिक ही होता है। फिर ईश्वरकृपा के लिए भी अवकाश है।

(६) **पूर्णता का अनुभव सम्भव :** छठी श्रद्धा है कि मानव-जीवन में पूर्णता का अनुभव सम्भव है। वैसे तो व्यक्तिगत तौर पर हमने कितने ही महापुरुष देखे हैं। सत्पुरुषों की संगति में रहने का सौभाग्य हमें मिला है। किन्तु पूर्ण मनुष्य एक भी नहीं देखा। फिर भी जीवन में पूर्णता का अनुभव हो सकता है, यह एक श्रद्धा का विषय है।

ऐसी कई श्रद्धाएँ मुझे सभी धर्मग्रंथों में देखने को मिलीं। इसे मैं अध्यात्म मानता हूँ। अध्यात्म में मुझे यह अभिप्रेत है। सभी धर्म इसे मानते हैं। 'कुरान सार' में शीर्षक देते समय इन मूलभूत श्रद्धाओं को शीर्षक में बना लिया था। वह शीर्षक सभी मैंने दिये हैं। अंग्रेजी में यह श्रद्धा इस प्रकार रखी है : युनिटी एण्ड सैंक्टिटी ऑफ आल लाइफ। कन्टिन्यूइटी ऑफ दी लाइफ आफ्टर डेथ। फेथ इन ऐब्सोल्यूट मॉरेल वैल्यूज। देयर इज आर्डर इन द वर्ल्ड। एक्शन्स हैव देयर रिजल्ट।

मुझे लगता है कि ऐसी आध्यात्मिक निष्ठा के आधार पर सभी धर्मों का समन्वय हो सकेगा। हाँ, इसमें भी कई एक सवाल उठते रहे हैं। किसी ने पूछा कि क्या मृत्यु के बाद भी जीवन की अखण्डता मानने की जरूरत है? कोई एक बात के लिए ऐसा कहेगा, तो कोई दूसरी के लिए। परन्तु मुझे लगता है कि इन पाँच-छह तत्त्वों के आधार पर सभी धर्मों का समन्वय करना सम्भव है। और इसकी सचमुच जरूरत है। एक काल में प्रस्थानत्रयी का समन्वय करके हमारा निर्वाह हुआ। किन्तु अब आज के जमाने की सर्व धर्म समन्वय करने की जरू-

रत खड़ी हुई है। समन्वय के लिए धर्म-विचारों का दृढ़भाजक—गुरुत्तम साधारण अवयव निकालना पड़ेगा। ऐसा करने से शुद्ध अध्यात्म हाथ लगेगा और विज्ञान-युग में यही काम में आयेगा। ऐसा दृढ़भाजक निकालने का प्रयत्न मैंने किया है। इसके आधार से समन्वय हो सकेगा।

(१८) हिन्दू-धर्म : व्याख्या और विश्लेषण

हिन्दू-धर्म की व्याख्या, जो मैंने अपने चिन्तन के लिए जेल में बनायी थी, इसमें मेरी कुछ विशेषता नहीं है। दूसरों द्वारा की हुई व्याख्याओं में से मैंने बटोर लिया है। पूर्णता के लिए कुछ नया जोड़ दिया है। कुल मिलाकर इसने मुझे समाधान दिया है। शायद दूसरों को भी वह समाधान दे सके। जो भी हो, व्याख्या इस प्रकार है :

यो वर्णाश्रम-निष्ठावान् गो-भक्तः श्रुतिमातृकः
मूर्ति च नावजानाति, सर्व-धर्म-समादरः
उत्प्रेक्षते पुनर्जन्म तस्मात् मोक्षणमीहते।
भूतानुकुल्यं भजते स वै हिन्दुरिति स्मृतः

हिंसया दूयते चित्तं
तेन हिंदुरितीरितः

ये संस्कृत श्लोक पढ़ कर एक भाई ने एक पत्र मुझे लिखा है, जिसमें पूछा है कि आप ये श्लोक कहाँ से उद्धृत किये हैं, और आप छूत-अछूत-भेद मिटानेवाले और धर्मातीत-सरकार को माननेवाले हैं। आपके उन विचारों का इस व्याख्या में प्रकट हुई श्रद्धा के साथ कैसे मेल बैठता है ?

यह एक सनातनी भाई के आक्षेप हैं। इससे उल्टे दूसरे एक भाई ने यह पूछा था कि यह आपकी वर्णाश्रम-निष्ठा सर्वोदय के साथ कैसे मेल खाती है ?

इन दोनों के उत्तर में मैं इस व्याख्या का थोड़े में विवरण ही कर देता हूँ, जिससे मुझे आशा है कि मेरा काम हो जायेगा।

१. यो वर्णाश्रम-निष्ठावान्-जो वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म में निष्ठा रखता है।

'वर्णधर्म' यानी जन्म, शिक्षण और परिस्थिति के कारण जिसे जो सहज कर्तव्य प्राप्त होता है, वह निष्ठापूर्वक करना और इस तरह अपना-अपना काम करनेवाले हरएक की सामाजिक प्रतिष्ठा और पारिश्रमिक समान होंगे, इस विचार को मान्य करना।

आश्रम-धर्म यानी जीवन में संयम को प्रधान-पद दे कर संयम की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ाते जाना और वय के मुताबिक गुरु-सेवा, कुटुम्ब-सेवा, समाज-सेवा और आत्म-चिन्तन को लक्ष्य करके वृत्ति-संशोधन और जीवन-परिवर्तन करना।

२. गो-भक्तः जो गो- सेवा में मानता है। 'गो-सेवा' यानी मानवता के विकास के लिए गाय को मानव-कुटुम्ब में स्थान दे कर उससे उचित सेवा लेते हुए गाय की आखिर तक उत्तम हिफाजत करना और वैज्ञानिक-बुद्धि से गाय को स्वावलम्बी बनाना, जिससे वह किसी को भाररूप महसूस न हो।

३. श्रुतिमातृकः--जो श्रुति को मातृवत् आदरणीय समझता है।

'श्रुति' यानी वेदोपनिषदादि मूल ग्रंथों में तथा मनु-व्यासादि शिष्टों, कपिल-पतंजलि आदि दर्शनकारों, बुद्ध-महावीर आदि नीति-विचारकों, शंकर-रामानुजादि सम्प्रदाय-प्रवर्तकों, ज्ञानदेव-तुलसीदास आदि सन्तों के वचनों में 'हृदयेन अभ्यनुज्ञान': अर्थात् मानव को हृदयंगम होनेवाला सर्वाऽविरोधी-सर्व-समन्वयकारी जो सत्यांश भरा हुआ है।

'मातृवत् आदरणीय समझना' यानी माता के वचनों का हम जिस तरह आदरपूर्वक अनुशीलन करते हैं, वैसे ही उपरि-निर्दिष्ट श्रुति का अनुशीलन करना और यथासम्भव उसके विचारों का अनुसरण और परिवर्धन करने की कोशिश करना है।

४. मूर्ति च नावजानाति—जो मूर्ति की अवज्ञा नहीं करता।

'मूर्ति' यानी (अ) सामान्यत: चराचर समग्र सृष्टि या उसका कोई भी अंश और (आ) विशेषत: परमेश्वर की उपासना के लिए उन-उन उपासकों ने स्वीकृत की हुई अश्लील प्रतिमाएँ, चित्र, संकेत या मंत्र और शब्द।

'अवज्ञा न करना' यानी सब व्यक्त सृष्टि अव्यक्त परमेश्वर का ही आविर्भाव है, ऐसा समझ कर किसी को हीन-बुद्धि से न देखना और दूसरों की उपासनाओं की कद्र करना, चाहे वे उपासनाएँ अपने लिए आवश्यक या अनुकूल न हों।

५ सर्व-धर्म-समादर:—जो सब धर्मों का सम्यक् और समान आदर करता है।

'धर्म' यानी (अ) सामान्यत: उस-उस मनुष्य की उस-उस प्रकृति के विकास और संशोधन के लिए जरूरी साधन-मार्ग और (आ) विशेषत: भिन्न-भिन्न महात्माओं, पैगम्बरों और प्रणालियों द्वारा प्रचलित और दुनिया के भिन्न-भिन्न मानव-समूहों द्वारा स्वीकृत वैदिक, भागवत, जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, ख्रिस्ती और इस्लाम आदि विश्व में प्रचलित धर्म।

'सम्यक् आदर' यानी सत्यासत्यविवेक रखते हुए पूज्य भाव।

'समान आदर' यानी किसी को ऊँच या नीच नहीं समझना, बल्कि भिन्न-भिन्न भूमिकाओं और दृष्टिकोणों पर अवस्थित समझना।

६. उत्प्रेक्षते पुनर्जन्म—जो पुनर्जन्म को मानता है।

'पुनर्जन्म' यानी इस देह के अन्त के साथ जीव के जीवन का अन्त नहीं होता है, ऐसी मूलभूत श्रद्धा। जब तक सर्वविकाररहित हो कर जीव पूर्ण परिशुद्ध नहीं होता है, तब तक उसको अपना विकास-प्रयत्न जारी रखना ही है, चाहे स्थूल देह ले कर, चाहे सूक्ष्म देह में।

७. तस्मान् मोक्षणमीहते जो उस (पुनर्जन्म) से मुक्त होने की इच्छा रखता है।

'मुक्त होने की इच्छा' यानी जिसके कारण व्यापक-समष्टि से अलग एक संकुचित देह में जीव को परिवेष्टित होकर रहना पड़ता है, अर्थात् जिसके कारण मैं और तू, या अपना और पराया इस तरह का भेद-निर्माण होता है, उस अविद्या-अहंकारादि मोहजाल से छूटने की अभिलाषा।

८. भूतानुकूल्यं भजते - जो सर्व भूतों के अनुकूल बरतता है

'भूत' यानी (अ) सामान्यतः सर्व प्राणिमात्र।

(आ) विशेषतः मानव-समाज।

'अनुकूल बरतना' यानीं जैसे अपने को सुख-दुःख हैं, वैसे ही दूसरों को भी है, इसका ख्याल रख कर व्यवहार करना। हरएक को जीवन का उतना ही अधिकार है, जितना अपने को हैं, इस बात को मानना। अपने जीवन के लिए दूसरे के जीवन पर आक्रमण न हो, इसका ख्याल रखना।

हिन्दू-धर्म के आदि काल से अभी तक के समूचे विचार-प्रवाह को देखकर और अनेक विद्वानों और श्रेष्ठ पुरुषों ने हिन्दू-धर्म की व्याख्याएँ समय-समय पर प्रकट की हैं उनको पचा कर यह अष्टविध लक्षण बनाया गया है। आखिर की एक पँक्ति में हिन्दू शब्द की व्यापक 'निरुक्ति' बताया है। उसका विवरण लिखने के पहले 'निरुक्ति' शब्द का भी अर्थ समझ लेना ठीक होगा।

निरुक्ति और व्युत्पत्ति में फारक है। व्युत्पत्ति व्याकरण का विषय है, निरुक्ति आध्यत्मिक होती है। व्युत्पत्ति सामान्यतः धातुमूलक होती है, निरुक्ति अक्षर पर आधार रखती है, अर्थात् वह काल्पनिक होती है। चिन्तन की सुलभता के लिए अक्षरों पर बैठायी हुई वह एक उपकारक कल्पना होती है।

अब निरुक्ति और उसका विवरण –

हिंसया दूयते चित्तम्, स वै हिंदूरितीरितः—चूँकि हिंसा से उसका चित्त दुःखित होता है, उसे हिन्दू कहते हैं।

हिं = हिंसया, हिंसा से।

दु = दूयते, (चित्त) दुःखित होता है।

'हिन्दू शब्द कहाँ से आया, किसने बनाया, किस पर से बनाया, इत्यादि ऐतिहासिक चर्चा का इस निरुक्ति के साथ कोई ताल्लुक नहीं है। ऐतिहासिकों की कल्पना में वह शब्द प्रादेशिक बनता है। यह निरुक्ति उसको विश्वव्यापक अर्थ देती है।

सन्दर्भ-सूची

[पुस्तिका के प्रकरण जिन प्रवचनों और लेख के आधार से तैयार किये गये हैं, उनकी सूची नीचे दी जा रही है।]

(१)

मैत्री सितम्बर १९९०

भूदानगंगा (१) १५४-१५५-२५९

(२)

मैत्री सितम्बर १९९०

भूदानगंगा (५) ४५-४६-१८२

(३)

मैत्री सितम्बर १९९०

विचारपोथी–२३१

भूदानगंगा, (१) १५५

भूदानगंगा (४) १८०-१८१

भूदानगंगा (५) १२३-१२४

(४)

मैत्री सितम्बर १९९०

भूदानगंगा (५) १२३

(५)

मैत्री सितम्बर १९९०

भूदानगंगा (६) २७ से ३०

(६)

मैत्री सितम्बर १९९०

भूदानगंगा (२) ६२-१४७-१४८-१४९

भूदानगंगा (५) २६७

(७)

विचारपोथी–३४७

भूदानगंगा (१) १५५

भूदानगंगा (२) ६१-२७८

भूदानगंगा (३) ११७-११८

भूदानगंगा (५) २००-२०१

भूदानगंगा (६) ३१३

भूमिपुत्र ता० १६-११-१९६९

(८)

भूदानगंगा (१) १५८

भूदानगंगा (३) २३-२४

भूदानगंगा (५) १९९

भूदानगंगा (७) ७२-७३-७४

भूमिपुत्र ता० १६-११ १९६९

(९)

भूदानगंगा (१) १५६-१५७
भूदानगंगा (२) १६२-२७५-२७६
भूदानगंगा (३) १०९-११०-११२-
११५-११६
भूमिपुत्र ता० १६-११ १९६९
विनोबा के विचार (१) २०८
विनोबा-चिंतन (४४-४५-४६) ३९२-
३९३
विनोबा चिंतन (४९-५०-५१) १०९

(१०]

भूदानगंगा (१) ६४-६५-६६-६८
भूदानगगा (२) १०६
विनोबा-चिंतन (२६-२७) १०९

(११)

भूदानगंगा (१) १३०-१३१-१३२
भूदानगंगा (२) १८०
भूदानगगा (५) २८-३०
भूदानगंगा (८) ४४ ४५
विनोबा-चिंतन (२६-२७) १११-
११२-११३-११४

(१२)

भूमिपुत्र ता० १६-९-५९

(१३)

भूदानगंगा (५) १७४-१७५
भूदानगंगा (६) ३२ से ३६

(१४)

विनोबा-चिंतन (४९-५०-५१) १११
भूदानगंगा (८) ४७
भूमिपुत्र ६-९-१९६७

(१५)

भूदानगंगा (२) १२८-१२९
भूमिपुत्र ता० ६-९ १९६७
विनोबा-चिंतन (४९-५०-५१) १११

(१६)

भूमिपुत्र ता० १६-९-१९६६
भूमिपुत्र ता० ६-४-१९६२
भूमिपुत्र ता० १६-७-१९६६

(१७)

भूमिपुत्र ता० ६-९-१९६७
अध्यात्म-तत्व-सुधा १-२-३
१५३-१५४-१५५
कुरान-सार ६-१८-२०४-२०६

(१८)

सर्वोदय जनवरी १९५१

सर्व-धर्म-समन्वय-साहित्य

गीता-प्रवचन	विनोबा
धम्मपदं (नव-संहिता)	,,
स्थितप्रज्ञ-दर्शन (संशोधित)	,,
मनु-शासनम्	,,
भागवत-धर्म-सार (मीमांसासहित)	,,
गीताई चिन्तनिका	,,
ख्रिस्त-धर्म-सार	,,
गुरुबोध-सार	,,
महागुहा में प्रवेश	,,
रूहुल कुर्आन (अरबी)	,,
कुरान-सार (हिन्दी)	,,
रूहुल कुर्आन (उर्दू, नागरी लिपि)	,,
जपुजी	,,
ईशावास्य वृत्ति	,,
अष्टादशी (उपनिषद्-अनुवाद)	,,
साम्य-सूत्र	,,
अध्यात्म-तत्त्व-सुधा	,,
तनाव से मुक्ति और ध्यानदीप	शिवानन्द
जीवन और अभय	,,
जीवन और सुख	,,
गीता रसामृत	,,
उमंग भरा जीवन	,,